मिट्टी के आदमी

हिन्दी-लघुकथा के जनक

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र की

व्यंग्यात्मक लघुकथाएँ

● लेखक का स्थायी पता—

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र
द्वारा : आरोग्य-भवन,
पंसारी बाजार,
सहारनपुर (उ० प्र०)

मिट्टी के आदमी

(व्यंग्यात्मक लघुकथाएँ)

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र

प्र भा त प्र का श न
दिल्ली   मथुरा

प्रकाशक

प्रभात प्रकाशन

२०५, चावड़ी बाजार

दिल्ली

●

लेखक

आचार्य जगदीश चन्द मिश्र

●

●

प्रथम संस्करण

१९६७

●

मुद्रक

गायत्री प्रेस, इलाहाबाद

●

मूल्य

पाँच रुपये

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार को

प्रयाग-प्रवास की स्मृति में !

लघुकथाएँ

सिनेमा स्टार

एक स्त्री ने अपने अगले जीवन में अपना मनोभिलषित वर पाने के लिए मृत्युपर्यन्त कठिन तप किया। उसके कठिन तप से भगवान् उस पर प्रसन्न हो गए। भगवान् के प्रसन्न होते ही, उसके मरने से पूर्व, उसके लिए तीन बार आकाशवाणी हुई—'किसी देश का राज्य दूँ ?'

'नहीं, भगवन् !' उस स्त्री ने कहा—'सब देशों के राज्य बहुत उपद्रवी होते हैं। राज्य में यत्र-तत्र विद्रोह, अकाल, महामारी—इनसे लड़ते-लड़ते ही मेरा सारा जीवन नष्ट हो जायेगा !'

'सुन्दर, स्वस्थ, गौरवशाली पति दूँ ?'

'नहीं, भगवन् !' उस स्त्री ने कहा—'पति कैसा ही हो, अपने पतित्व के अधिकार का अहम् उससे कभी नहीं छूटता। मैं उस अनुशासन में बँधकर जीना बिलकुल पसन्द नहीं करती !'

'तब स्वस्थ, सबल, आज्ञाकारी पुत्र दूँ ? मेरे वर के प्रसाद से, बिना पति के अनुशासन के ही, कुन्ती की तरह, सन्तान प्राप्त कर लोगी ?'

'नहीं, भगवन् ! वह भी नहीं।' उस स्त्री ने कहा—'सुन्दर उमंगों से भरे मेरे भावी जीवन का सबसे अच्छा भाग उसके पालन-पोषण में ही बीत जायेगा !'

तीनों आकाशवाणियों के निष्फल हो जाने पर भगवान् स्वयं प्रत्यक्ष होकर उससे बोले—'जान गया, देवि ! तुम्हें सांसारिक मोह नहीं है। तब मीरा की तरह मेरे चरणों का अनुराग लो; मेरी भक्ति लो !'

'नहीं, भगवन् ! नहीं।' उस स्त्री ने व्याकुलता से कहा—'तुम्हारे चरणों के अनुराग में, अपने तन की सुधि बिसराकर, तुम्हारी भक्ति में, वृन्दावन के कुँज-कुँज, गली-गली मुझसे न भटका जायेगा !'

'तब,' भगवान् ने कहा—'बिना ज्ञान के, बिना किसी कठोर साधना के, मैं तुम्हें इस असार संसार से सर्वथा मुक्ति देता हूँ। मुक्ति लो; मेरे प्रसाद से निर्वाण का परम पद प्राप्त करोगी !'

'ना, ना !' स्त्री चीखकर बोली—'तुम नहीं जानते, भगवन् ! तुम तो इस संसार से सब दिन बहुत दूर रहते हो; इस असार संसार में बहुत सुख है, बहुत रस है !'

हारकर भगवान् ने उससे कहा—'अच्छा, अब तुम ही बताओ, तुम क्या बनना चाहती हो ?'

भगवान् के यह कहते ही, उस स्त्री ने अपने अधरों में मीठा मधुर हास भर, नीचे पृथ्वी की ओर देखते हुए, डरते-डरते धीरे से कहा—'भगवन् ! सिनेमा स्टार !'

दो फोन, दो अदालतें

सुशीला जैसे ही कमरे से उठकर रसोई घर का बाकी काम निपटाने रसोई में गई, वैसे ही माधुरी ने फोन उठाकर कहा—'हलो, वन, थ्री, फाइव प्लीज़ !'

'हलो, कौन बोल रहा है ?' दो क्षण में फोन बोल उठा।

'मैं, माधुरी ! डाक्टर !' आवाज बहुत पहिचानी हुई थी।

'हलो, माधुरी ! तुम। तुम्हारी ममी इस समय कहाँ हैं ?'

'रसोई घर में !'

'कमरे में तुम अकेली ?'

'हाँ, बिलकुल अकेली।'

'तो बताओ, आज का अपना प्रोग्राम ?'

'सिविल लाइन्स, ललित रेस्टूरैन्ट। ढाई बजे। यूनिवर्सिटी टाइम में, डियर !'

'अरे, उस समय तो तुम अपने गाइड के पास होगी, थीसिस के सम्बन्ध में ?'

'फिर क्या बात है ?' माधुरी ने उत्तर दिया—'आज तुम ही मुझे गाइड कर देना।......दुनिया में अकेले दिमाग की ही तो आदमी को भूख नहीं होती, डाक्टर ! दिल की भी तो कोई भूख होती है। आज उसी पर शोध करने दो !'

डाक्टर बहुत दूर अपने फोन पर खड़ा हुआ भी सिर से पैर तक गुदगुदा गया। उसकी गुदगुदाहट बहुत आतुर होकर फोन पर कुछ बोलने जा रही थी कि सहसा सुशीला रसोई घर से अपने कमरे में लौट आई। माधुरी ने सहमकर तत्काल फोन रख दिया। सुशीला ने पूछा--'कौन बोल रहा था, माधुरी ?'

उस घबराहट में माधुरी के मुख से निकल गया--'कोर्ट से पापा बोल रहे थे, ममी ! कह रहे थे—आज लञ्च के लिए जो खाना तुम्हारी ममी ने भेजा है, उसमें वे दही रखना भूल गईं। और तुम जानती हो, दही मेरे लञ्च और डिनर दोनों के लिए कितना जरूरी है।'

माधुरी की बात सुन सुशीला तत्काल अपने रसोई घर के नौकरों पर चीखती हुई फिर कमरे से बाहर निकल गई--'दुष्टों ! यहाँ आओ। बताओ--आज साहब के लञ्च का खाना किसने लगाया था ? आज मैं तुम लोगों को सज़ा दिये बिना नहीं छोड़ूँगी। ऐसे भी तुम लोग क्या अन्धे हो गए, जो सब दिन देखते हुए भी आज साहब के लञ्च में दही लगाना भूल गए !'

अपनी ममी के पीछे माधुरी भी कमरे से बाहर निकल आई थी। अपनी ममी को पूरे मनोयोग से रसोई घर के नौकरों से जूझते देख वह दबे पाँव फिर अपनी ममी के कमरे में गई और फोन मिलाकर उसने कोर्ट में अपने पापा से कहा--'पापा ! अभी-अभी कोर्ट से आपका फोन मिला था। आज के आपके लञ्च में ममी की भूल से दही छूट गई है। मैं अभी दूसरे नौकर से दही भिजवा रही हूँ।'

उसके पापा कुछ उत्तर दें उसके पहिले ही उसने फोन रख दिया।

साहब लञ्च कर चुके थे। उन्होंने खाने में दही भी खाई थी। उन्हें बेहद झुँझलाहट हो आई—किसी शैतान ने झूठमूठ दही भिजवाने के लिए घर पर फोन कर दिया। उन्होंने तत्काल अपने पेशकार को बुलाकर कहा—'लञ्च-रुम के दोनों चपरासियों को इसी समय मेरे सामने हाजिर करो, पेशकार ! मैं उन दोनों को सख्त सज़ा दिये बिना नहीं छोड़ूँगा। दोनों दिन-दिन सिर चढ़ते जा रहे हैं। हमारे घर पर आँख बचाकर झूठे फोन करने लगे हैं !'

एक पौण्ड ऊन, एक छटाँक मलाई

राधा ने अपनी कोठी के बाहर वाले बरामदे में बैठे-बैठे देखा—गणेशी रसोई घर में बैठा बहुत सावधानी से हाण्डी के दूध की सारी मलाई एक चम्मच से उतार-उतार कर अपने प्याले में खाने के लिये इक्ट्ठा कर रहा है। गणेशी की इस बेईमानी ने उसका मस्तिष्क झकझोर दिया और वह तेजी से रसोई घर की ओर झपटी।

गणेशी क्रोध से भरी राधा को अपनी ओर आते देख चौंका और उसने एक टेढ़ी नजर से वहीं बैठे-बैठे सारे रसोई घर को देखा, पर मलाई का प्याला छुपाने की कोई जगह उसे दिखाई नहीं दी। और कोई उपाय न देख उसने मलाई का प्याला उलटाकर दूध की हाँडी में ही छुपा दिया और राधा के रसोईघर में घुसते ही वह तेजी से बाहर निकल गया।

राधा कम समझदार न थी। गणेशी की मलाई की चोरी और प्याले को छुपाना ताड़ गई, परन्तु गणेशी अपने काम में उससे कहीं अधिक चतुर था। उसने बाहर आते ही देखा—राधा के पलंग पर एक पौण्ड बढ़िया ऊन, जो वह कल ही बाजार से खरीदकर लाई थी, लापरवाही से एक सफेद थैले में रक्खी है और बरामदे की छत के सामने एक मोटा बन्दर बैठा है। उसने झपट कर ऊन का थैला उठाया और राधा की आँख बचाकर उसे मोटे बन्दर के सामने खुली छत पर फेंक

दिया और तुरन्त जोर से चिल्लाकर कहा—'बहूजी ! तुम्हारा ऊन का थैला बन्दर उठा ले गया !'

राधा तुरन्त चीखती-चिल्लाती उलटकर रसोई घर से छत की ओर भागी। गणेशी ने सुयोग देख दूध की हाँडी में से मलाई से भरा अपना प्याला ऊपर खींच कर उसी समय खड़े-खड़े ही दो-तीन घूँट में भीतर सटक लिया और तुरन्त दो रोटी और एक बड़ा सा डंडा हाथ में ले ऊपर छत पर राधा के पास पहुँच गया।

राधा चिल्ला रही थी--'हाय रे, गणेशी ! मेरी ऊन ! मेरी ऊन !!' और गणेशी आगे बढ़ पहिले बन्दर को दूर से डंडा दिखाता और फिर रोटी के दो टुकड़े उसके आगे फेंक देता। बन्दर रोटी के टुकड़ों को ललचाई नजर से देखता तो जरूर, पर गणेशी के डंडे के डर से उठाने की हिम्मत न कर पाता, उल्टे राधा की ऊन हाथ में लिए एक से दूसरी छत पर दौड़ जाता। इस तरह कुछ ही देर में जब वह दोनों की आँखों से ओझल हो गया तो राधा ने बड़ी मायूसी से कहा--'हाय, मेरी तो एक पौण्ड ऊन चली गई, गणेशी ! मैंने तो अभी उसके दो धागे भी अपनी सलाई पर नहीं चढ़ाये थे !'

उत्तर में बड़ी हमदर्दी से गणेशी ने अपनी मालकिन से कहा—'क्या करूँ, बहूजी ! पाजी ने छोड़ी ही नहीं। मैंने तो छुड़ाने में बड़ी दौड़-धूप की। शैतान को दो रोटी देकर फुसलाया भी और डंडा दिखाकर बार-बार डराया भी !'

निर्वाण का परम पद

एक जैन मित्र ने एक दिन बड़े तपाक से कहा--'हमारे देश के सब लोग भूल में हैं, बन्धु ! जो हमारे शासन को धर्म-निरपेक्ष कहते हैं। हमारे शासन का नाम चाहे जो कुछ हो, पर हमारा शासन पूर्णतः धार्मिक है, निरा अनेकान्तवादी, जैन-मतावलम्बी !'

'कैसे ?' मैंने आश्चर्य से पूछा।

'देखिये,' उसने कहा--'अनेकान्तवादियों की भाँति उसका मूल नारा भी अहिंसा है!'

मैंने कहा--'हाँ, और ?'

'और बन्धु !' उसने कहा—'हमारे शासन का पहिले एक अधिपति होता था, अब अनेक अधिपति होते हैं; --पानी का राजा अलग, बिजली का राजा अलग, अनाज का राजा अलग, शिक्षा का राजा अलग, रोगों का राजा अलग !'

'और ?' मैंने फिर पूछा।

'और,' उसने उत्तर दिया-- 'पहिले पुलिस और अदालत जनता से अपना काम करने का पैसा माँगती थी, अब इनके अतिरिक्त डाकखाना पैसा माँगता है, खजाना पैसा माँगता है, रेल का बाबू पैसा माँगता है, इन्स्पेक्टर पैसा माँगता है, डाक्टर पैसा माँगता है, इंजीनियर पैसा माँगता है; और सुना है, भगवान जाने झूठ या सच, पर लोग अक्सर ऐसा कहते

हैं—— कहीं-कहीं मिनिस्टर भी पैसे के लिए अपना हाथ पसार देता है !'

कुछ क्षण मेरे मुख की ओर ध्यानपूर्वक देखकर उसने फिर कहा——' बन्धु ! पहिले सेना में कोई एक विरला ही लड़ने वाली जाति अपने युवकों को लड़ने के लिये युद्धों में भेजा करती थी, परन्तु अब तो लड़ने सेना में ब्राह्मण भी भरती होता है, हरिजन भी, राजपूत भी और लाला भी। और यही नहीं, अब महिलाओं की बटालियन भी लड़ने को तैयार खड़ी रहती है।'

मैंने पूछा——'और ?'

उसने कहा——'और क्या, बन्धु ! जरा व्यापक दृष्टि से देखो तो ज्ञात होगा——हमारे शासन में ही नहीं, सारे देश में, चारों ओर अनेकता फूटती जा रही है——वाणी की अनेकता, भाषा की अनेकता, विचारों की अनेकता, वादों-उपवादों की अनेकता तथा वेश-उपवेश की अनेकता !'

मैंने फिर पूछा—'और ?'

उसने मेरे बार-बार 'और ? और ?' पूछने से झुँझला कर उत्तर दिया——'और शासन के हाथों में होता ही क्या है, बन्धु ! जिसे बताऊँ ! यही तो हमारे अनेकान्तवाद की विशेषता है, मित्र ! वह मूल सत्ता की एकता पर आस्था नहीं रखता, उसकी अनेकता पर विश्वास करता है !'

'परन्तु मित्र !' मैंने कहा——'अहिंसा धर्ममय इस अनेकान्त का भविष्य जब कोई आक्रमणकारी शत्रु हमारे माथे पर चढ़ा हो तब तो बहुत ही अशुभ है !'

'अशुभ ! नहीं, नहीं, बहुत शुभ !' उसने दृढ़ता से उत्तर दिया——'आत्मकल्याण से भरा ! निर्वाण के परम पद

को देने वाला ! ! तुमने सुनी होगी, मित्र ! एक जैन मुनिकथा है---हस्तिनापुर में नौ जैन अनेकान्तवादी अहिंसा-व्रतधारी तपस्वी मुनि शान्त और निर्विकार भाव से तप कर रहे थे। किसी दुष्ट राजा के सैनिकों ने, राजा की आज्ञा से, दीप्त अंगारों से भरी एक-एक अंगीठी उनके सिरों पर लाकर रख दी। फिर भी वे न हिले, न डुले; अपने शरीर की समस्त वेदनाओं को मौन भाव से सहते हुए, अपनी देह त्याग कर, अन्त में निर्वाण के परम पद को प्राप्त हो गए। ठीक ऐसा ही हमारा अनेकान्तवादी यह शासन भी है!'

तीन दिन का दुर्भाग्य

एक नगर में एक लकड़ी का दलाल रहता था। प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व ही वह अपने नगर की चौकी-चुंगी पर जा बैठता और उस समय जो लकड़ी की गाड़ियाँ देहातों से नगर में आतीं, उन पर पैसा दो पैसा अपनी दलाली तैय कर उन्हें नगर के दुकानदारों को बिकवा देता और जब पूरे दो रुपये उसकी जेब में आ जाते, तब उसी समय अपना काम छोड़कर अपने घर लौट आता। अपनी जेब के वे दोनों रुपये प्रतिदिन का अन्न-वस्त्र जुटाने के लिए वह अपनी स्त्री को सौंप देता। उसके बाद जितना समय बचता, वह सब ईश्वर की उपासना में लगाता और प्रतिदिन किसी साधु-सन्त को पहिले भोजन कराकर फिर अपने आप खाता।

एक दिन वह अपने नियमानुसार नियत समय अपने नगर की चौकी-चुंगी पर गया। सारा दिन उसे बैठे-बैठे बीत गया, परन्तु कोई लकड़ी की गाड़ी उस दिन चौकी-चुंगी पर नहीं आई। संध्या को जब वह अपने घर लौटा तो बहुत उदास था।

'क्या बात है ?' उसकी स्त्री ने पूछा—'आज इतनी उदासी क्यों ?'

'आज चौकी-चुंगी पर बैठे-बैठे सारा दिन बीत गया, एक भी लकड़ी की गाड़ी नहीं आई !' उसने दुःखी मन से उत्तर दिया।

'कोई बात नहीं !' उसकी स्त्री ने कहा—'चिन्ता मत करो। मेरे पास थोड़ा-सा सोना रक्खा है, उसे बाजार में बेच आओ !'

दलाल ने अपनी स्त्री से सोना ले लिया और उसे तुरन्त बाजार में बेच आया। वह सोना भी इतना थोड़ा था कि किसी भी तरह दो रुपये से अधिक का नहीं बिक सका।

दूसरे दिन भी अपने नियमानुसार सूर्योदय से पूर्व ही वह चौकी-चुंगी पर गया और सारे दिन बैठा रहा, पर उस दिन भी उसके दुर्भाग्य से एक भी लकड़ियों की गाड़ी देहात से नहीं आई। उस दिन भी वह अपने घर उदास ही लौटा।

उसकी स्त्री ने दूसरे दिन भी उससे यही कहा—'चिन्ता मत करो। मेरे पास थोड़ा सोना और है। उसे बाजार में ले जाकर बेच आओ !'

उस दिन भी दलाल अपनी स्त्री से सोना लेकर बाजार में बेच आया।

संयोग से तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। चौकी-चुंगी पर एक भी लकड़ियों की गाड़ी देहात से नहीं आई और तीसरे दिन भी वह संध्या को उदास ही अपने घर लौटा।

उस दिन भी उसकी स्त्री ने उससे यही कहा—'मेरे पास आज भी थोड़ा-सा सोना है। उसे ले जाकर बाजार में बेच आओ !'

तीसरे दिन दलाल ने अपनी स्त्री से सोना हाथ में लेकर सन्देह-भरे स्वर में पूछा—'अच्छा, पहिले तुम यह बताओ—जब मैंने तुम्हें कभी सोना नहीं दिया, तब प्रतिदिन तुम्हारे पास यह सोना कहाँ से आ जाता है ?'

'तीन दिन पहिले जो साधु महात्मा हमारे घर भोजन करने आए थे, वे मुझे एक छोटा-सा काला पत्थर दे गए थे और कह गए थे—जिस दिन तुम्हारे घर पर अन्न-वस्त्र का संकट आए, उसी दिन तुम इससे सोना बना लिया करना। पर याद रखना, यह काला पत्थर उतना ही सोना बनायेगा, जितनी उस दिन तुम्हारी आवश्यकता होगी !'

दलाल ने अपनी स्त्री की बात सुनकर उससे यह काला पत्थर देखने को माँगा और उसे हाथ में लेते ही दौड़कर तुरन्त उसे नदी में फेंक आया।

आते ही उसकी स्त्री ने क्रोध से उससे कहा—'कितना बुरा किया तुमने ?'

'बुरा नहीं, अच्छा किया !' उसने तेजी से उत्तर दिया—'आज समझा—मेरे तीन दिन के दुर्भाग्य का कारण यह काला पत्थर ही था !'

और चौथे दिन जब वह चौकी-चुंगी पर गया, उसके पहुँचने के बहुत पहिले ही तीन-चार लकड़ियों की भरी गाड़ियाँ चौकी-चुंगी पर खड़ी थीं।

तीसरे पैर का खोट

एक दिन एक स्वर्णकार के पास एक मनुष्य अपने पुत्र को साथ लेकर आया और बोला—'मित्र ! तुम स्वर्णकार हो। सोने का खोट बता देते हो। साहित्यकारों ने लिखा है—जैसे सब धातुओं में उच्च धातु सोना है, वैसे ही सब प्राणियों में सर्वोच्च मनुष्य है; परन्तु मित्र ! कोई भी सोना हो, उसमें थोड़ा-बहुत खोट अवश्य मिला रहता है। अतः मेरे इस पुत्र को परख कर बताओ—इसमें कितना खोट है और कितना सोना ?'

स्वर्णकार ने कुछ देर एक अर्थभरी दृष्टि से उसका मुख देखा और कहा—'मित्र ! वहुत दुःख है—हमारी कसौटी मनुष्य के सोने की परख नहीं कर पाती। तुम उन्हीं साहित्यकारों के पास जाओ, जिन्होंने मनुष्य के सोने का ज्ञान तुम्हें दिया है !'

वह मनुष्य स्वर्णकार के पास से निराश लौट रहा था। मार्ग में एक दूकान पर उसे एक प्रबुद्ध साहित्यकार के नाम का बोर्ड दिखाई दिया। वह विनयावत हो उनके सामने जाकर खड़ा हो गया।

साहित्यकार ने पूछा—'क्या जानना चाहते हो, बन्धु !'

'आप लोगों का वचन है,' उस मनुष्य ने कहा—'मनुष्य संसार में सब प्राणियों में सोना है। परन्तु संसार में जितने भी प्रकार का सोना पाया जाता है, उसमें कुछ न कुछ खोट अवश्य

रहता है। मैं जानना चाहता हूँ--मेरे इस उत्पाती पुत्र में कितना सोना है, कितना खोट ?'

प्रबुद्ध साहित्यकार बहुत प्रत्युत्पन्नमति थे। उन्होंने उससे पूछा--'तुम जानते हो सोने की परख कैसे की जाती है ?'

'कसौटी से !'

'यदि कसौटी ठीक न बताए ?'

'तब अग्नि से !'

'बस, इसीलिए मैं तुम्हारे पुत्र को ठीक से अग्नि में तपाऊँगा। मनुष्य में जब उत्पात बहुत बढ़ जाते हैं, उसके खोट की परख उस समय किसी कसौटी से नहीं होती ! तुम जाओ, कल आकर इसका खोट देख जाना !'

वह मनुष्य अपने पुत्र को वहीं छोड़ लौटने लगा। अभी उसने अपने घर की ओर दो ही पैर बढ़ाये थे, तीसरा पैर वह उठा ही रहा था, कि उसका पुत्र करुण-क्रन्दन से चीखने लगा--'हा, पिता ! मैं अग्नि में तपाया जाऊँगा ! हा, पिता ! मैं अग्नि में तपाया जाऊँगा !! मैं मर जाऊँगा !!! ......'

अपने पुत्र का करुण-क्रन्दन सुन, उस मनुष्य का तीसरा पैर आगे बढ़ता-बढ़ता रुक गया और वह भारी भय तथा ममता से बार-बार मुड़कर करुण-क्रन्दन करते अपने पुत्र का मुख देखने लगा।

साहित्यकार ने तुरन्त अपनी कुर्सी से उछलकर कहा--'बन्धु ! यह जो तुम्हारा अपने घर की ओर उठता-उठता तीसरा पैर अब रुक गया है--बस, आदमी के बेटे के सोने में इतना ही तीसरे पैर का खोट मिला रहता है; परन्तु कठिनाई यह है, जब कोई पारखी उसे खरा कुन्दन बनाने के लिए आग में तपाना चाहता है तो आदमी का पैर जहाँ का तहाँ रुक जाता है, वह उसका खोट देख ही नहीं पाता !'

राज्याश्रय

एक दिन एक सिंह अपने आखेट से बहुत उदास, बहुत निराश टूटते से पैरों से अपने घर वापस लौटा। उसकी सिंहनी ने देखा तो उसका हृदय धक् से होकर रह गया। अपने सिंह का चेहरा उसे बहुत ही मलीन, स्फूर्तिहीन, जीवन की आभा से शून्य सा दिखाई दिया।

उसने भारी दुख से कहा--'यह क्या, प्रियतम ! क्या मेरा सिंह आज सिंह नहीं रहा ? सिंह का मुख और जीवन की आभा से शून्य ? सिंह की गति साहस और स्फूर्ति से हीन ?'

'सिंह तो हूँ, प्रिये !' सिंह ने मन्द वाणी से उत्तर दिया--'पर कुछ चिन्तित हूँ !'

'ऐसी क्या चिन्ता है ?' सिंहनी ने बहुत उद्वेगपूर्वक पूछा।

'प्रिये !' सिंह ने उत्तर दिया--'मैं आज अपने आखेट का पीछा करते-करते एक राजपथ के निकट चला गया था। वहाँ मैंने देखा--एक प्रसन्न गजराज बहुमूल्य राजकीय वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, अपनी पीठ पर एक संरक्षक को बिठाये बहुत से राज-सेवकों के साथ, मदमत्त गति से चला जा रहा था। उस अहंकारी की आँखों में उस समय अपने राजकीय-पद और स्वाभिमान का अभूतपूर्व उल्लास भरा था। उसकी गति में उस समय अपने ऐश्वर्य का मदान्ध गाम्भीर्य फूट रहा था।'

'तुमने उस अहंकारी का उसी समय वध क्यों नहीं कर दिया ?' सिंहनी ने क्रोधपूर्वक कहा—'सिंह तो अपनी आँखों में किसी का अहंकार, किसी की मदान्धता, कभी स्वीकार नहीं करते !'

'वध तो उसका उसी समय कर देता, प्रिये !' सिंह ने डरते-डरते कहा—'पर मैं एक बात सोचने लगा !'

'क्या ?' सिंहनी ने उद्वेगपूर्वक पूछा।

'मैं उस समय यह सोचने लगा,' सिंह ने बताया—'यह राज्याश्रय भी संसार में कितनी बड़ी चीज़ है ! यह संसार में ढेरों सम्मान देता है; बहुत ऐश्वर्य देता है; संरक्षण देता है; यदि किसी तरह, आज मैं भी सिंह के बदले गजराज होता ?'

'नहीं, नहीं, सिंह के बदले आज गजराज नहीं, तुम राजा के एक श्वान होते,' सिंहनी तड़पकर बोली—'तो बहुत अच्छा होता। वैसा होने पर राज-सम्मान के अतिरिक्त अहर्निश राजा का सान्निध्य, राजपुत्रों का प्यार-दुलार और दोनों समय प्रतिदिन सुन्दरी राजमहिषियों के कोमल करों से तुम दुग्धपान करते !'

लज्जा से सिंह वहीं खड़ा-खड़ा पृथ्वी में गड़ गया।

घण्टे की वाणी

मन्दिर के घण्टे से एक दिन एक दर्शनार्थी ने पूछा——'अरे, जब हम दर्शनार्थी मन्दिर में आया करते हैं, तब तुम छूते ही चिल्ला उठते हो। न जाने तुम अपनी भाषा में क्या कहा करते हो, समझ में नहीं आता ?'

मंदिर के घण्टे ने उत्तर दिया——'बन्धु, मैं अपनी भाषा में यहाँ आनेवालों से प्रतिदिन यह कहा करता हूँ—अरे, दर्शनार्थियों ! तुम प्रतिदिन मंदिर में मस्तक झुकाने आते हो और मस्तक उठाकर चले जाते हो। मूर्खों ! यदि एक बार भी प्रभु के सम्मुख अपना मस्तक झुकाकर तुम उठाना भूल जाते, तो वह पहिली ही बार तुम पर प्रसन्न हो जाते !'

धूल-मिट्टी की परत

एक दार्शनिक एक दिन अपने एक प्रश्न में बुरी तरह उलझ रहा था। उसका प्रश्न था––'न जाने यह क्या बात है, अपने ऊपर करारी चोट खाने से जड़ लोहा असि होकर संसार में वीरों की कटि की शोभा बनता है; निर्जीव पत्थर कटते-पिटते देवता बन जाता है और संसार में देव-मन्दिरों की ऊँची वेदियों में स्थान पाता है; चेष्टाहीन स्वर्ण सुनार के हाथ की मार खाते-खाते सुन्दर आभूषण का रूप ग्रहण करता है और संसार की मृगनयनियों के कण्ठ में स्थान पाता है। करारी चोट पड़ते ही सब अकिंचन से महान् हो जाते हैं, पर यह मनुष्य न जाने क्यों अपने ऊपर करारी चोट खाने से असहाय हो, नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ता है; अपनी उन्नति नहीं करता; अपने स्थान से ऊपर नहीं उठ पाता!' पर घण्टों अपना सर खपाने पर भी उसे अपने प्रश्न का कोई समाधान नहीं सूझ रहा था। हार कर वह दौड़ा-दौड़ा अपने गुरु के पास गया और उनके सम्मुख उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया।

उसके गुरु उस समय न जाने कैसी झुँझलाहट में थे। उन्होंने अपनी झुँझलाहट में ही उसके प्रश्न का समाधान किया––'मूर्ख! यह मनुष्य न केवल लोहा, न केवल सोना और न केवल पत्थर है। यह तो तीनों का सम्मिश्रण है; और साथ

ही बहुत सी पानी-मिट्टी की परत भी उस पर चढ़ी हुई है, जिससे वह उसके भीतर-बाहर बुरी तरह दबा हुआ है।'

'तब तो गुरुजी !' दार्शनिक ने ऊपर उछलकर कहा—'उसे अपने ऊपर करारी चोट खाने से निश्चय से अपने स्थान से ऊपर उठना चाहिए; अवश्य संसार में अकिंचन से महान् बनना चाहिए। आपके कथनानुसार—संसार में ऊपर उठने वाले पदार्थों—सोना, लोहा, पत्थर—तीनों का वह सम्मिश्रण है और साथ में धूल और पानी भी उसमें हैं। वे दोनों भी ऊपर उठने वाले हैं। धूल पर पत्थर फेंको तो तत्काल आकाश में ऊपर उड़ जाती है; जल में ढेला मारो तो वह भी तत्काल अपनी जगह से ऊपर उछल जाता है !'

उसकी बात सुनकर गुरु ने सरोष उत्तर दिया—'पागल ! इतना भी नहीं समझता—मिट्टी और पानी मिलकर सब कीचड़ हो जाता है; और कीचड़ को जितना जोर से पीटो उतना ही नीचे दब जाती है, ऊपर नहीं उठ पाती; चाहे उसके भीतर सोना, लोहा क्या, सब रत्न ही रत्न भरे पड़े हों !'

तृप्ति

पनिहारी से किसी ने पूछा--'अरे, तुम नित्य अपने घटों को शीतल जल से भर-भरकर मनुष्य की तृषा मिटाने के लिए घर-घर जाया करती हो; परन्तु देखती हो, उसकी तृषा आज तक कहाँ मिटी ? प्रतिदिन तुम्हारे शीतल जल से भरे घटों का आवाहन तो आज भी उसका अभीष्ट ही होता है !'

पनिहारिन ने उत्तर दिया--'अबोध, इस संसार में तृप्ति कहाँ ? किसी की तृषा कब मिटी ? मनुष्य की तृषा तो नादान, संसार में अमर होकर आई है। अरे, देखता नहीं, यहाँ न मनुष्य को समर्पण से तृप्ति है, न ग्रहण से !'

दृष्टि-सुख

एक स्थान पर एक भूखण्ड पर आम्र के वृक्ष उगे थे और दूसरे भूखण्ड पर कँटीले बबूल। दोनों का दुर्भाग्य, दोनों एक दूसरे के सम्मुख थे। जिस भूखण्ड पर आम्र के वृक्ष उगे थे, उस पर बसन्त में कोकिल और शुकों के मधुर गान होते थे; ग्रीष्म में बटोहियों के झुण्ड के झुण्ड उस पर बैठकर लोकगीत गाते और तपती दुपहरी में विश्राम करके अपनी यात्रा का श्रम दूर करते थे। सावन-भादों में जब आकाश काली-काली घटाओं से घिरा रहता और अपनी नन्हीं-नन्हीं बून्दों से जब उस भूखण्ड के आम्र-वृक्षों को सहलाता, उस समय नागरिकों के समूह उस भूखण्ड पर एकत्रित हो जाते और आम्र-वृक्षों के फल-उपहार स्नेह से स्वीकार करते। शरद के आरम्भ से शिशिर के अन्त तक वह भूखण्ड कृषक-बालाओं की नुपूर-ध्वनियों से झंकृत होता रहता। वे उन आम्र-वृक्षों के नीचे रह-रहकर विश्राम करतीं, मंगल-गान गातीं और बीच-बीच में उठकर अपने खेतों में धान लगातीं, ऊख बोती तथा गेहूँ-चने की रखवारी करतीं। वह भूखण्ड सर्वदा मधुरता से भरा रहता, सर्वदा सुखी रहता।

जिस भूखण्ड पर कँटीले बबूल उगे थे, उस अभागे के पास वर्ष भर में कभी-कभी, भूला-भटका, कोई ब्रह्मचारी अपने मुँह में चबाने के लिए, उसकी कोई कोमल डाल अपने तेज चाकू से काटने आ जाता।



दोनों भूखण्ड पास-पास, समान होते हुए भी भाग्य की विडम्बना से उनमें से एक सुखी था और दूसरा अपने जीवन में कोई भी मधुरता न रहने के कारण बहुत दुखी था।

अनायास एक बार विधाता न जाने अपनी किस इच्छा से उन दोनों के बीच से निकले जा रहे थे। आत्मपरितप्त बबूल के भूखण्ड ने तत्काल चिल्लाकर उनसे कहा--'ओ, अन्यायी विधाता! यह तेरा कैसा पक्षपात है? एक अपनी सन्तान को आम्र के वृक्ष देता है और एक को बबूल के काँटे?'

विधाता उस भूखण्ड की बात सुनकर चलते-चलते रुक गये। रुकते ही एक तीक्ष्ण दृष्टि से उन्होंने उस भूखण्ड का आत्म-दुख से परितप्त मलीन मुख देखा और दयातुर हो कहा--'वत्स! सचमुच तुम दुखी हो। मैं देख रहा हूँ--तुम सर्व-परित्यक्त हो। तुम्हारे पुरुष-हृदय पर कोई कोमल पद-चिह्न अंकित नहीं। पर मैं विवश हूँ। किसी का भी फिर दूसरी बार मैं निर्माण नहीं कर सकता। विधाता का नियम है--जो एक बार अच्छा-बुरा बन गया, सो बन गया!'

बबूल के भूखण्ड ने विधाता की बात सुनकर क्रोध से कहा--'तब क्या जो तुमने एक बार बना दिया, उसका विनाश भी नहीं कर सकते?'

'हाँ, वह कर सकता हूँ!' विधाता ने उत्तर दिया।

'यदि मेरा वैसा निर्माण नहीं कर सकते,' बबूल वाले भूखण्डने कहा—'तब मेरे सामने वाले आम्र-वृक्ष के भूखण्ड का विनाश ही कर दो!'

'तुम उसके विनाश से सुखी होगे?' विधाता ने पूछा।

'हाँ, निश्चय से। जब उस जैसा सुख इस संसार में मेरे लिए अप्राप्य है, तब वह मेरी आँखों से किसी तरह दूर ही हो जाए तो कम से कम नित्य के इस आत्म-परिताप से मुझे छुटकारा तो मिलेगा ही।'

विधाता ने कहा—'ऐसा है तो लो—तथास्तु !'

विधाता के 'तथास्तु' कहते ही आम्रवृक्ष वाला भूखण्ड सर्वथा ध्वस्त हो गया। उसके समस्त आम्र-वृक्ष नष्ट हो गए और वह तत्काल स्वयं एक टेढ़े-मेढ़े बालू के टीले में परिणत हो गया।

विधाता तत्काल चले गए।

परन्तु वह बबूल के काँटों वाला भूखण्ड, विधाता के चले जाने के बाद से, अब पहिले से भी अधिक दुखी था। अब वह अत्यन्त एकाकी था। दूसरे भूखण्ड पर नित्य उपस्थित होने वाले जीवन-सुखों को दूर से ही देखकर, जो दृष्टि-सुख उसे मिलता रहता था, अब वह उससे भी सर्वथा वंचित हो गया था।

स्त्री-पूजा

दीपावली की अमावस की रात थी। मैं तन्मयता से रामायण के सुन्दरकाण्ड का पाठ कर रहा था। पढ़ते-पढ़ते बहुत रात बीत गई। आँखें बलात् मूँदने लगीं। उस अर्ध-चेतनावस्था में मैंने अपना माथा तकिये पर रख दिया। माथा तकिये पर रखते ही सहसा मेरा सारा कमरा किसी भव्य प्रकाश से जगमगा उठा। उसमें एक दिव्य नारी-मूर्ति प्रकट हुई। सहस्त्रों चन्द्रमाओं जैसा उसके सौन्दर्य का आलोक था। मैं उस आलोक को देखकर उसी में डूबने लगा।

उस मूर्ति ने सचेत कर मुझे सम्बोधन किया—'भद्र ! मैं नारायण की प्रिया महामाया लक्ष्मी हूँ। आज उन सब दरिद्रों को धनधान्य से पूर्ण करने आयी हूँ, जिनके घर में तन-मन से नित्य स्त्री-पूजा होती है।'

मैं आजन्म अभी तक लक्ष्मी की कृपा से वंचित था। हर्ष-विभोर हो, मैं तत्काल देवी के चरणों में झुक गया और बोला—'महामाया ! आज मुझ पर भी तुम्हारी कृपा हो ! मैंने स्त्री को कभी अपना दास नहीं माना, सदा गृहस्वामिनी समझा। सब लौकिक कार्यों में एक सखा की तरह उससे मंत्रणा की; पारलौकिक कार्यों में कभी उसे अपने से दूर नहीं किया।'

महामाया ने मेरी कही बातों की उपेक्षा कर जोर का अट्टहास किया। फिर बोलीं--'वह सब कुछ नहीं, जो मैं पूछती हूँ, उसका ठीक-ठीक उत्तर दे--तेरी स्त्री पूर्ण स्वतन्त्र है ?'

मैं महामाया का मुँह ताकने लगा। महामाया की पूछी पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

महामाया ने दो क्षण मेरा मुँह देखकर फिर कहा--'अरे, समझा नहीं ? अच्छा, बता--सभा-सोसाइटी, राज्यद्वार, सखा-सखि, मित्र-परिचित--सबके यहाँ आने-जाने में तेरी ओर से तेरी स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता है ?'

देवी-देवताओं के सामने झूठ बोलना मना है। मैं सत्य उत्तर देते हुये डरा। फिर भी मैंने साहस कर कहा--'ऐसा तो महामाया ! स्त्री-मर्यादा के विरुद्ध है, और.........'

'पागल !' महामाया ने बीच ही में मुझे रोक कर कहा—'अच्छा, दूसरी बात बता--तेरी स्त्री को अपनी रुचि का वस्त्र, अपनी रुचि का भोजन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है ?'

महामाया की इस बात का मेरे पास उत्तर था। मैंने कहा—'महामाया ! हमारे यहाँ एक लोकोक्ति है--खाइये मन-भाता, पहरिये जग-भाता ! खाने-पीने में मेरी स्त्री को पूरी स्वतन्त्रता है, पर पहिरने में सामाजिक लोकाचार का थोड़ा-सा बन्धन...!'

महामाया ने मेरी इस बात की भी उपेक्षा की--'अच्छा, तो तीसरी बात बता--तूने पर-पुरुषों के साथ, आहार-विहार करते समय, उसका स्त्री-सुलभ स्वाभाविक संकोच भी अपने यत्न से अभी तक दूर किया या नहीं ?'

महामाया के इस प्रश्न पर मुझे तनिक क्रोध उभर आया। मैंने कहा--'देवि ! कैसी बात कहती हैं ? यह तो

आदरणीय गृहस्वामिनियों के लिए बहुत ही लज्जा की बात है !'

महामाया ने मेरी इस बात पर क्रोध से भरा इतने जोर का अट्टहास किया कि मेरे कमरे की चारों दीवारें काँप उठीं। मैं बुरी तरह डर गया। उन्होंने भर्त्सना के साथ कहा--'कुपात्र ! बीसवीं सदी में खड़ा है और बात करता है राम के युग की ? मूर्ख ! इतना भी नहीं जानता--पुराने विधान उप-विधानों में सर्वदा समय-समय के अनुसार संशोधन होते ही रहते हैं। स्त्री-पूजा अपने स्वरूप में आज भी वही पुरानी स्त्री-पूजा है; पर आज के समय में उसके विधि-विधान आमूल बदल गये हैं !' और वह उल्टे पाँव, मुझे धन-धान्य से पूर्ण किये बिना ही, कमरे के फर्श पर क्रोध से पाँव पीटती हुई, वापस चली गईं।

तुरन्त कमरे में फिर पूर्ववत् अन्धकार व्याप्त हो गया।

वनराज का पीलिया

एक वन के राजा सिंह को पीलिया का रोग हो गया। उस रोग के कारण वनराज सिंह को वनस्पति, पशु-पक्षि सब सोने जैसे रंग के दिखायी देने लगे। वनराज ने आश्चर्यान्वित हो अपने मंत्री शृगाल को बुलाकर पूछा––'अमात्य ! यह मेरा कोई दृष्टि-भेद है या कोई वस्तु-सत्य, जो आज मुझे अपनी सारी वन-सम्पदा सोने जैसे पीले रंग की दिखाई दे रही है ?'

वनराज का मन्त्री शृगाल अत्यन्त चतुर था। उसने उत्तर दिया––'वनराज ! यह तुम्हारा दृष्टि-भेद नहीं, वस्तु-सत्य है। आज वन-वनस्पति, पशु-पक्षिमय तुम्हारा शासित संपूर्ण राज्य सचमुच अपनी श्री-संपदा से स्वर्णमय हो उठा है।'

अपने मंत्री की बात सुनकर वनराज अत्यन्त प्रसन्न हो उठा। वह उसी समय अपने अनुशासित अनुचर-परिचर जनों में दौड़ा गया और बोला––'बन्धुओं ! देखो, हमारा शासन कैसा सुन्दर फल लाया है। आज हमारी सारी वन-संपदा, फल-फूल-पत्ती, पशु-पक्षि सब स्वर्णमय हो गये हैं। आओ, इस प्रसन्नता में हम सब लोग मिलकर आज नाचें-गायें, खुशी मनायें।'

वनराज के अनुचर-परिचरों को वैसा कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। फिर भी उन्होंने सोचा—नीति-वाक्य यही है कि

राजा के अनुचर-परिचरों को सर्वदा राजा की हाँ में हाँ मिलानी चाहिए, अन्यथा कल्याण नहीं। सब ने एक स्वर से कहा—'हाँ, राजन् ! आपका वचन सत्य है।'—और सब हिल-मिल कर नाचने-गाने लगे।

सिंह, शृगाल और उनके अनुचर-परिचरों के नाचने-गाने और उछल-कूद की आवाज से सिंह की धर्मपत्नी वहाँ दौड़ी आयी और सिंह के पास जाकर बोली—'तुम सब लोग आज पागल हो गये हो ? मैं तो वैसा कहीं नहीं देखती, जैसा तुम सब कह रहे हो ? सब कुछ पहिले जैसा ही तो स्वर्ण-विहीन है।'

कुछ दूर खड़े शृगाल ने सिंहिनी की बात सुनी और अपने मन में कहा—'अरे, यह दुष्टा तो आज का सारा खेल ही चौपट कर देगी !' वह चुपके से सिंह के पास गया और बोला—'राजन् ! जानते हो, संसार में स्त्री को क्या कहते हैं ?'

'अबला !' सिंह ने कहा।

फिर शृगाल बोला—'अबला की दृष्टि कैसी होनी चाहिये ?'

'जैसी वह, वैसी ही अबला की दृष्टि !'—सिंह ने उत्तर दिया।

'बस, यही बात है, वनराज !' शृगाल ने कहा—'हमारी स्वामिनी की दृष्टि भी अबला ही है। वह वस्तु-स्थिति के सत्य को वैसे नहीं देख पाती, जैसे आप और हम !'

सिंह ने तत्काल अपनी स्त्री को झिड़क कर दूर भगा दिया।

कुछ दिनों बाद ऐसा समय आया जब सिंह का पीलिया जाता रहा और उसके साथ ही उसकी आँखों पर चढ़ा सोना भी अपने आप उतर गया। उसकी सारी वन-संपदा, वन-वनस्पति, पशु-पक्षि सब उसे अपने पहिले ही जैसे वर्ण में दिखायी देने लगे। अपना दृष्टि-भेद समझते ही सिंह को अपने मंत्री शृगाल पर बहुत क्रोध आया। वह तत्काल दौड़ा-दौड़ा उसके पास गया और बोला--'धूर्त ! तूने मुझे ठगा; झूठ बहकाया। मेरी सारी वन-संपदा तो पहिले ही जैसी है, कहीं भी कुछ सोने का नहीं।'

वनराज का मंत्री अपनी कला में पारंगत था। उसने निर्भयता से उत्तर दिया--'इसमें मेरा क्या अपराध, वनराज ! मैं तो राज्य-मंत्री हूँ। राज्य के अनुचर जैसा संवाद लाकर मेरे मंत्रालय को देते हैं, वैसा ही मैं आपके सम्मुख कह देता हूँ। अपराध तो राज्य के उन अनुचरों का है, जिन्होंने झूठा संवाद लाकर मेरे मंत्रालय को दिया।'

सिंह दौड़ा-दौड़ा अनुचरों के पास गया और क्रोधपूर्वक बोला--'दुष्टों ! तुमने मेरे मंत्री को ठगा ! झूठा संवाद दिया ! मेरी वन-संपदा तो पहिले ही जैसी है, कहीं कुछ भी उसमें सोने जैसा नहीं हुआ ?'

'राजन् ! हम सब निरपराध हैं ! ' सब अनुचरों ने अत्यंत विनम्रता से उत्तर दिया--'आप तो राजा हैं, राजनीति के पंडित हैं। आप तो जानते ही हैं--हम सब आपके सेवक हैं, अनुचर हैं। फिर आप यह भूलते क्यों हैं कि अनुचर-सेवकों की दृष्टि ही नहीं, वाणी की गति भी, सर्वदा वैसी ही हो जाती है, जैसी उनके स्वामी की होती है !'

अमृत की घूँट

गंगा किनारे संतों की अनेक कुटियाँ थीं। सभी संत सब दिन भजन-पूजन में लगे रहते या लोगों को भले-बुरे का उपदेश देने के लिए जब इच्छा होती नगरों-ग्रामों में विचरण किया करते। एक बार एक बहुत बूढ़ी स्त्री सिर से पैर तक श्वेत वस्त्र पहिने, सिर पर एक सोने का कलश और हाथ में एक कमण्डल लिये पहाड़ से नीचे उतर कर उन संतों की कुटिया में आयी और उच्च स्वर से कहने लगी—'संतों! तुम सब इकट्ठे होकर गंगा-तट पर आओ। मेरे सिर पर, देवस्थान से बड़े यत्न से लाया हुआ, अमृत से भरा एक सोने का कलश है। मैं निश्चय-पूर्वक जानती हूँ कि तुम सब निष्पाप हो, बाल्यकाल में ब्रह्मचारी रहे हो, युवाकाल में कठिन तपस्वी और अब अपनी इस प्रौढ़ा-वस्था में जन-कल्याण की भावना से संसार को धर्मोपदेश देते हो। मैं तुम सबको, मनुष्य को अजर-अमर कर देने वाले, इस स्वर्ण-कलश के अमृत की एक-एक घूँट आज पिलाऊँगी!'

वृद्ध स्त्री यह कहकर अपना सोने का कलश सिर पर लिये गंगा-तट पर जा बैठी। कुछ ही देर में अपनी-अपनी कुटिया से निकल-निकल कर सब संत गंगा-किनारे उस बूढ़ी स्त्री को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये।

उस बूढ़ी स्त्री ने सब संतों को अपने सम्मुख आया देख अपने सिर पर से अमृत से भरा स्वर्ण-कलश नीचे उतारा और

उसे तिरछा कर संतों को पिलाने के लिए अपना कमण्डल अमृत से भर लिया।

सब संत स्वयं ही अनुशासनबद्ध होकर एक-एक करके चुल्लूबद्ध एक लम्बी पंक्ति में खड़े हो गये।

बूढ़ी स्त्री तुरन्त उठकर खड़ी हुई और अपना कमण्डल संतों की ओर झुकाकर बोली—'आदरणीय संतों! बड़े यत्न से देवस्थान से लाये हुए, मनुष्य को अजर-अमर करने वाले, इस स्वर्ण-कलश के अमृत में एक भारी दुर्गुण भी है। यह भूल से यदि किसी अपात्र के उदर में चला जाता है तो तुरन्त उदर विदीर्ण कर अपने आप बाहर निकल आता है और उदर के फट जाने से उसी समय उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है!'

सब संतों ने डरकर सम्मिलित स्वर में उस बूढ़ी स्त्री से पूछा—'देवस्थान से बड़े यत्न से लाये हुए, मनुष्य को अजर-अमर करने वाले तुम्हारे इस अमृत की पात्रता क्या है, देवि?'

'जो संसार में सदा आत्म-निर्भर हो;' वृद्धा स्त्री ने उत्तर दिया—'जो कभी किसी दूसरे का भाग न खाता हो!'

सब संत परस्पर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। वे सब संसार-विरक्त साधु थे तो क्या, परन्तु सब सर्वदा रोटी तो दूसरों के घर से ही लाकर खाते थे और अपने जीवन में सर्वथा दूसरों पर निर्भर थे। सब संतों को निराशा से एक दूसरे का मुँह ताकते देख उस वृद्धा स्त्री का उनकी ओर झुकता-झुकता कमण्डल वाला हाथ एकदम ऊपर उठ गया और उसने कहा—'आदरणीय संतों! यह अमृत का भरा घट देवस्थान से मैं अपने बाल्यकाल में लायी थी। इसे सिर पर रक्खे-रक्खे और यही सोचते-सोचते मेरी युवावस्था बीत गयी कि संसार में इसकी दो घूँट किसी

को दूँ या न दूँ ? अब इस वृद्धावस्था में तुम सब तपस्वियों को देखकर निश्चिन्त हुई । यह सारा संसार तो प्रायः गृहस्थ-बहुल है और इसे कौन नहीं जानता --गृहस्थियों का सारा जीवन तो प्रायः एक-दूसरे का भाग छीनने में ही बीत जाता है ! उन लोगों के पूर्णतः आत्मनिर्भर होने की बात भी मैं कैसे सोचती ? तुम लोग तो सर्वदा संसार से विरक्त हो; संसार की माया-मोह से दूर हो; सर्वथा निष्पाप हो । आओ, निर्भय होकर आगे बढ़ो । संसार में अजर-अमर करने वाले मेरे इस स्वर्ण-कलश के अमृत की दो-दो घूँट पीओ ।'

सब संत फिर भी परस्पर एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे, निश्चल खड़े रहे और भय से मन ही मन काँपते रहे ।

वृद्धा स्त्री ने अपना कमण्डल उनकी ओर झुकाते हुए अपनी बात तीसरी बार फिर दोहरायी, परन्तु तीसरी बार भी सब संत पहले ही की तरह भयभीत से निश्चल ही खड़े रहे ।

तीसरी बार भी सब संतों को सहमे हुए देख वृद्धा स्त्री ने अपना अमृत से भरा कमण्डल नीचे रख दिया और दौड़ कर प्रत्येक संत का उसने बारी-बारी से मुँह देखा ।

उसकी दृष्टि में न जाने कैसा दिव्य तेज था कि जिसको उसने देखा, उसी से वह नहीं सहा गया । सबने अपनी आँख नीचे झुका लीं । तब उस वृद्धा स्त्री ने तेजी से अपना कमण्डल नीचे से ऊपर उठाया और उसका सारा अमृत अपने आप पी गयी । उसके बाद अपने सिर पर रखा हुआ अमृत से भरा सोने का कलश उसने गंगा के बहते पानी में फेंक दिया और जिधर से आयी थी, उधर ही चली गयी ।

गंगा की धारा उसी समय उस अमृत के प्रभाव से आदि से अन्त तक श्वेत हो गयी ।

चार पैर आगे, चार पैर पीछे

एक दिन एक सिरस के बड़े पेड़ की डाल पर दो गृद्ध-राजकुमार कहीं से आकर दायें-बायें बैठ गये। बैठते ही दूर-दृष्टि से दोनों ने एक साथ देखा--सुदूर एक नदी-तट पर एक हृष्ट-पुष्ट जवान अश्व मृत पड़ा है। उसके सुचिक्कण सुस्वादु मांस की गन्ध ने दोनों की जीभ में पानी भर दिया। दोनों उसके लिए लालायित हो एक साथ उसी दिशा की ओर झपटे।

दोनों प्रवीण कूट-राजनीतिज्ञ थे। कुछ दूर आकाश में चलते हुए एक ने दूसरे को ठीक-ठीक समझा और अपने-अपने मन में कहा--आज हम दोनों पथिक तो अपनी इस यात्रा में परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं, परस्पर मित्र नहीं !

यह समझते ही एक ने दूसरे से कूटनीति से कहा—'सखे, नमस्कार ! कहो, आज किन गृद्ध-राजकुमारियों के प्रिय देश की दिशाओं में तीव्रता से अनुगमन हो रहा है ?'

'सखे, नमस्कार !' दूसरे ने उसी भाषा में उत्तर दिया—'मैं उन प्रिय दिशाओं से कतई अनजान था, इसलिए आज मैंने आपका अनुसरण किया !'

इस उत्तर से एक ने दूसरे को समझा—साथी कूटनीति और विद्या-बुद्धि में मुझसे किसी तरह कम नहीं, वाक्-जाल में फँसने वाला नहीं, अब भय से काम लेना चाहिये। अतः दूसरी

बार पहले ने दूसरे से कहा—'मित्र ! सुदूर प्रिय देशों के मार्ग बहुत कठिनाइयों से भरे होते हैं। उन देशों के पथिकों को अनेक नद-नदी-पर्वत तथा भयानक वनों को पार करना पड़ता है। इसलिए मित्र ! तुम पीछे लौटकर अपने स्थान पर जाकर विश्राम करो। मैं अपनी इस यात्रा में सफल हुआ और जीवित रहा तो तुम्हें आकर बताऊँगा कि तुम्हारी प्रियदेशों की यात्रा किस प्रकार सफल होगी !'

'तुम्हारी बात तो युक्तिपूर्ण है, मित्र !' दूसरे ने उत्तर दिया—'परन्तु तुम यह क्यों भूलते हो कि इस युवावस्था का अहम् संसार की सफलता का मार्ग अपने पैरों से नाप कर ही प्रसन्न हुआ करता है !'

भय देने वाले राजकुमार को मौन हो जाना पड़ा। अब उसने समझा—साथी उसी की तरह मनस्वी है और बलवान् भी; भय दिखाने से काम नहीं चलेगा। अब परस्पर विग्रह करने से ही बात बनेगी। इसलिए चलते-चलते वह अपने शरीर के पुष्ट अंगों को बार-बार देखने लगा कि आवश्यकता पड़ने पर साथी के पुष्ट अंगों का परस्पर युद्ध में सामना भी कर सकेंगे या नहीं ?

आकाश में उड़ते-उड़ते अब वे दोनों अपने लक्ष्य-स्थान के इतने निकट आ गये थे, जहाँ से मृत अश्व उन दोनों को स्पष्ट दिखायी दे रहा था। उसे देखकर एक ने मन में सोचा—अरे, यह मृत अश्व तो बहुत विशाल है, बहुत हृष्ट-पुष्ट है, यदि किसी तरह दूसरे साथी को मारकर भगा दिया जाय तो अकेले इस अश्व से उसका भोजन कई मास तक आनन्द से चल सकता है !

और यह सोच कर तेजी से उस अश्व की मृत देह पर झपटते हुए उसने दूसरे से कहा—'सावधान, मित्र ! संसार में अपनी प्रिय वस्तुओं पर अपना अधिकार स्थापित करने में कभी-कभी परस्पर विग्रह भी अनिवार्य हो जाता है। अतः आज अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए मेरे साथ तुम्हें भी अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी; और कौन जानता है, फिर भी अन्त में पराजय ही तुम्हारे हाथ लगे ?'

'जय-पराजय सब, मित्र !' दूसरे ने उसी की भाषा का अनुकरण करते हुए कहा—'संसार में भाग्याधीन है और भाग्य जैसा तुम्हारे लिए अज्ञात है, वैसा हो मेरे लिए भी !'

और तत्क्षण दोनों वायुवेग से आकाश से नीचे झपटकर एक साथ उस मृत अश्व की देह पर जा बैठे। एक उसके अग्रभाग पर जा बैठा, दूसरा उसके पृष्ठ-भाग पर।

बैठते ही दोनों के मन में अपने-अपने प्राणों का मोह व्याप्त हो गया। दोनों अपने मन में सोचने लगे—परस्पर के विग्रह में प्राण चले गये तो फिर इस अश्व के सुस्वादु, सुचिक्कण मांस का उपभोग कैसे प्राप्त होगा ? इसलिए समस्त के विनाश होने की स्थिति में पण्डित लोग आधे-आधे पर परस्पर सन्धि कर लेते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार एक ने दूसरे से कहा—'आओ, मित्र ! परस्पर विग्रह की बात छोड़ो, हम दोनों आपस में आधे-आधे अश्व पर सन्धि कर लें। तुम अश्व के अग्र-भाग पर बैठे हो, अतः सिर से आधे कटि के भाग तक तुम ले लो; मैं अश्व के पृष्ठ भाग पर बैठा हूँ, अतः आधी कटि से अन्त तक मैं ले लूँ ?'

अश्व वास्तव में मृत नहीं था, जीवित था। किसी सुदूर स्थान से बहुत दौड़कर आया था, अलसाया चुपचाप अपनी आँखें बन्द किये अपनी मौज में नदी-तट पर एकाकी निश्चल पड़ा था। दोनों पक्षियों के पद-स्पर्श और अपने शरीर को आधा-आधा आपस में बाँट लेने की उन दोनों गृद्ध-राजकुमारों की बात से घबरा तुरन्त उठ बैठा।

दोनों गृद्ध-राजकुमार उस अश्व के उठकर बैठते ही भय से उड़कर पास के दो वृक्षों पर जा बैठे। अश्व ने उड़ते ही दो मिनट इधर-उधर देखा, खड़े होकर दो-चार दुलत्तियाँ इधर-उधर हवा में झाड़ीं, एक-दो बार अपने कान हिलाये, अपनी थकन दूर की और उसके बाद तरोताजा हो सब दिन की तरह अकड़कर अपने नगर की ओर जाने लगा।

आसपास वृक्ष पर बैठे दोनों राजकुमारों ने हाथ में आया शिकार हाथ से निकलकर जाता देख तुरन्त एक साथ चिल्ला कर अश्व से कहा—'ठहरो, मित्र ! कहाँ जाते हो ? इन ऊँचे वृक्षों के मस्तक पर चढ़े हम दोनों अपनी आँखों से देख रहे हैं—तुम्हारे नगर में इस समय बहुत उत्पात हो रहा है। तुम्हारे नगर के राजा का घर लुट रहा है। शत्रु अत्यन्त निर्दय है। जो जीवित प्राणी उसके सामने आता है, उसी का वह तत्काल सिर काट देता है। इसलिए इस समय तुम अपने नगर में मत जाओ। इस एकान्त नदी-तट पर ही तुम तब तक विश्राम करो, जब तक शत्रु शान्त होकर अपने घर न लौट जाय !'

अश्व दोनों गृद्ध-राजकुमारों की बात सुन भयभीत और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। कुछ देर

बाद उन दोनों राजकुमारों ने भयभीत और किंकर्तव्यविमूढ़ उस अश्व से कहा—'अब मित्र ! हम दोनों देख रहे हैं—तुम्हारा सारा नगर ध्वस्त हो गया है। नगर का शत्रु बचे-खुचे सब प्राणियों का संहार करता हुआ इस नदी-तट की ओर ही आ रहा है।'

उनकी बात सुन अश्व ने अत्यन्त भयकातर हो गिड़गिड़ाकर उनसे पूछा—'तब मित्रों ! तुम्हीं अपनी गृद्ध-दृष्टि से अच्छी तरह देख कर मुझे ऐसा कोई सुरक्षित मार्ग शीघ्र बताओ, जिससे अपने प्राण बचा सकूँ ?'

दोनों गृद्ध-राजकुमारों ने वहीं बैठे-बैठे तीन-चार बार चारों ओर अपनी दृष्टि घुमा कर उत्तर दिया—'मित्र ! तुम्हारे भागने के लिये इन समय सुरक्षित मार्ग कोई नहीं। बस, अब तुम्हारी जीवन-रक्षा का एक ही उपाय है कि तुम मृत-समान होकर पहले की तरह इस नदी-तट पर चुपचाप अपनी आँखें बन्द किये निश्चल लेट जाओ। तुम्हारे लेटते ही हम दोनों भी पहले की तरह ही तुम्हारी देह पर आ बैठेंगे और शत्रु जब हमें तुम्हारी देह पर बैठा देखेगा, तो मृत समझ तुम्हारा संहार किये बिना ही लौट जायेगा !'

अश्व को उन दोनों की बतायी अपनी प्राण-रक्षा की यह चाल पसन्द आयी और वह फिर पहले की तरह लेट गया और दोनों गृद्ध-राजकुमार उसके लेटते ही तत्काल पहले की भाँति उसके अग्र और पृष्ठ भाग पर प्रसन्नता से जा बैठे।

एक चतुर लोमड़ी ने, जो बहुत देर से एक झाड़ी में छुपी बैठी यह सब कूट-दृश्य देख रही थी, दोनों गृद्ध-राजकुमारों की आँख बचा चुपके से उस अश्व के पास जाकर उसके कान में

कहा—'मूर्ख ! ये दोनों, जो तेरे जीवन-रक्षक बने हैं, तेरी हृष्ट-पुष्ट सुचिक्करण देह के, सुस्वादु मांस के, लोलुप हैं। बस, रात होने की देर है। फिर अंधेरा होते ही तेरे जीते-जी तेरी सारी देह ये दोनों नोच-नोच कर खा जायँगे। पगले ! इससे अच्छी तो नगर वाली मौत है, जिससे तू डर रहा है। कम से कम उसमें कोई धोखा तो नहीं, अपने सामने शत्रु से लड़कर ही तो प्राण देगा !'

लोमड़ी की बात सुनकर अश्व तुरन्त उठकर खड़ा हो गया। दोनों गृद्ध-राजकुमार भय से फिर आसपास के वृक्षों पर जा बैठे। अश्व फिर एक बार हतबुद्धि हो गया। खड़ा होकर दो पैर आगे चलते ही गृद्ध-राजकुमारों की बात जब वह सोचता तो उसके चारों पैर पीछे लौट जाते और जब लोमड़ी की बात सोचता तो उसके चारों पैर फिर दो पग नगर की ओर आगे बढ़ जाते·!

काले परदे के पीछे

संसार के यात्रा-पथ के आरम्भ में दो दूकानें लगी थीं। दोनों बहुत बड़ी थीं। पहली दूकान बहुत सजी हुई थी। उसमें बहुत सामान था और सब सामान क्रमशः एक-एक गज की दूरी पर एक के बाद एक बहुत सँवार कर रक्खा हुआ था। सबका मूल्य भी सबके साथ लिखकर रखा हुआ था।

दूसरी दूकान पर देखने में कोई सामान नहीं था। केवल उसके द्वार पर एक बड़ा काला परदा टँगा हुआ था। दोनों दूकानों के दूकानदार अपनी-अपनी दूकान के आगे एक-एक कुर्सी बिछाये बैठे थे। मनुष्य जब चलने योग्य हुआ तो अपनी यात्रा के प्रारम्भ में ही उसकी दृष्टि उन दोनों दूकानों पर पड़ी। पहली दूकान की सजावट ने उसका मन मोह लिया। लुभाता-लुभाता वह पहली दूकान पर जा खड़ा हुआ।

पहली दूकान का दूकानदार अपनी दूकान पर ग्राहक आया देख प्रसन्नता से अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बहुत प्रेम से बोला—'आओ, मित्र! मेरी दूकान में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब तुम्हारे ही उपभोग के लिए हैं, जितनी मन चाहे ले लो!'

मनुष्य दूकानदार की बात सुनते ही उसकी दूकान में घुसा और घुसते ही जिस वस्तु पर उसने तन्मयता की दृष्टि डाली उसी ने जैसे उसका हाथ पकड़ लिया। जैसे उन सभी

में उसका अज्ञात प्रछन्न ममत्व पहले से ही भरा हो। उसके बाद उसने उस दूकानदार से एक-एक वस्तु का परिचय पूछा।

पहले दूकानदार ने अपनी दूकान की एक-एक वस्तु पर क्रमश: अपना हाथ रखकर कहा—'यह ऐश्वर्य है, यह धन, यह नारी, यह पुत्र, यह राज्य, यह साम्राज्य, यह शक्ति, यह शौर्य······'

मनुष्य ने बीच ही में टोककर इन सबका मूल्य पूछा।

'कुछ नहीं,' दूकानदार ने उत्तर दिया—'जिस वस्तु पर तुम्हारा हाथ बढ़ जाय, उसे ही उठा लो!'

यह सुनते ही मनुष्य का लालच बढ़ गया। उसका मन उस दूकानदार की सभी वस्तुओं की ओर खिच रहा था। उसने पूछा—'यदि मेरा हाथ बारी-बारी से तुम्हारी दूकान पर रक्खी हुई सभी वस्तुओं तक पहुँच जाय?'

'तो सब तुम्हारी।' दूकानदार ने उत्तर दिया।

मनुष्य तत्काल उसकी दूकान पर रखी सभी वस्तुओं को बारी-बारी से उठाने की इच्छा से अपने स्थान से, जहाँ वह खड़ा था, जोर-जोर से उछलने लगा।

दूसरे दूकानदार ने, जिसकी दूकान पर केवल एक काला परदा पड़ा हुआ था, यह देखा तो वह दौड़ कर आया और जोर से बोला—'रुको भाई, रुको! इस दूकान का कोई माल न लो। सब दिखावटी है, असत् है, नश्वर है; दो दिन में मिटने वाला है। इस दूकान की सब वस्तुओं की सजावट, रूप-रंग, ममता, सब एक प्रकार की छलना है, माया है; इसमें फँसे तो अन्त में नरकगामी होंगे। मेरी दूकान पर चलो, मेरी

दूकान की सब वस्तुएँ माया से रहित हैं, सब सत्य हैं, अनंतकाल तक स्थिर रहने वाली हैं।'

नरक का नाम सुन कर मनुष्य के मन की उछाल जाती रही। सब वस्तुओं की ओर बढ़ने का बल टूट गया। उसने घबड़ाकर दूसरी दूकान की ओर देखा।

दूसरा दूकानदार अपने पेशे में बहुत चतुर था। उसने कस कर मनुष्य का हाथ पकड़ लिया और उसे अपनी दूकान पर खींच कर ले गया। मनुष्य ने दूसरी दूकान पर पहुँचते ही उस दूकानदार से पूछा—'तुम्हारी दूकान की सब वस्तुएँ कहाँ हैं?'

'काले परदे के भीतर।'

'परदा हटाओ।'

'मेरी दूकान का यह नियम है', दूकानदार ने उत्तर दिया—'परदा नहीं हटाया जाता, वस्तुएँ दी जाती हैं!'

'क्या-क्या वस्तु हैं तुम्हारे पास?'

दूसरे दूकानदार ने कहना शुरू किया—'स्वर्ग के सब सुख—अप्सराएँ, जिनका यौवन कभी क्षय नहीं होता; कल्पद्रुम, जिससे जब चाहो, जितनी चाहो, इच्छित वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं; लाखों वर्ष की आयु, अनन्त ऐश्वर्य, असीम दैवबल, जो कभी किसी से पराजित नहीं होता!'

सभी वस्तुएँ अलौकिक थीं। मनुष्य का मन पहले से भी अधिक लालच में आ गया। उसने उत्सुकता से पूछा—'उन सबका मूल्य?'

'बस, पहले मेरे इस अज्ञात देवता के पीछे अपना सर्वस्व समर्पण', दूकानदार ने आकाश की ओर देख कर

उत्तर दिया—'पीछे उसके दिये स्वर्ग के अक्षय सुखों की प्राप्ति !'

'तब मैं अपना सर्वस्व समर्पण करता हूँ।'

'तब निधड़क आओ', दूकानदार ने उल्लास से कहा—'इस काले परदे के भीतर मेरी दूकान में घुस जाओ !'

उस लालच में पागल हुआ वह मूर्ख मनुष्य, इस लोक की सरलता से प्राप्त होने वाली सब प्रत्यक्ष विभूतियाँ छोड़, उस काले परदे के पीछे अन्धकार में रक्खी हुई अप्रत्यक्ष विभूतियों के पीछे आजीवन भटकता फिर रहा है !

भगवान् की चोरी

जब मानव की प्रथम बार सृष्टि हुई, उस समय भगवान् संसार का सारा एकत्रित संचित ज्ञान-विज्ञान उठाकर पर्वत, वन-उपवन, नदी-नद तथा सागरों में बिखेर रहे थे। परन्तु वह इतना अधिक था कि उन सब में भी न समाया। फिर जो शेष भगवान् के पास था, उसमें से बहुत कुछ उन्होंने पृथ्वी पर बिखेरा और शेष सब वायु के कण-कण में मिलाकर आकाश में ऊपर चढ़ा दिया।

भगवान् यह काम सबसे छुपाकर कर रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई यह देखे कि संसार का प्रभु पागलों की तरह संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु को यों ही चारों ओर क्यों बिखेर रहा है।

महर्षि नारद आदि काल से भगवान् के मुँह लगे हैं। उन्हें क्षण भर को भी भगवान् का वियोग सह्य नहीं होता। जब विष्णु-लोक में महर्षि नारद को भगवान् नहीं दिखाई दिये, तो न जाने कैसे, भगवान् सबसे छुपकर जहाँ खड़े संसार के बहुमूल्य ज्ञान-विज्ञान को यों ही चारों ओर बिखेर रहे थे, वहाँ आकर वह खड़े हो गये। विस्मय से उन्होंने कहा—'प्रभो! उन्मादी की तरह यह क्या कर रहे हैं?'

भगवान् एक बार तो महर्षि नारद को उत्तर देने में झिझके, परन्तु फिर अपना परम विश्वासी भक्त जानकर

बोले—'महर्षि ! प्रजापति एक भूल कर रहे थे, उसे सुधार रहा हूँ !'

'क्या भूल कर रहे थे, प्रभो ?' महर्षि नारद ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

'महर्षि !' भगवान् ने कहा—'यह तो तुम जानते ही हो, संसार की रचना में सर्वोत्कृष्ट मानव की रचना कर प्रजापति हर्षोन्मत्त हो उठे !'

'हाँ, यह तो जानता हूँ।' महर्षि नारद ने उत्तर दिया—'किन्तु जो उन्होंने भूल की वह तो सुनाइये ?'

'वही तो सुना रहा हूँ', भगवान् ने कहा—'मानव की सर्वोत्कृष्ट रचना में सफल होते ही प्रजापति ने उसके सुखोपभोग के लिये संसार में अनेक वन-उपवन लगाये और उन्हें सुस्वादु फल और सुगन्धित पुष्पों से भर दिया। यही नहीं, पृथ्वी का पेट चीर कर उसके लिये अनेक खनिज उपजाये, समुद्र को मथकर मणि-मुक्ताओं से भर दिया। और महर्षि ! मानव के प्रति प्रजापति का पक्षपात तो देखो— उसका दिन आलोकमय हो, इसलिये आकाश में सूर्य बनाया; उसकी रात्रि सुखद, कोमल, प्रकाशमय हो, इसलिये आकाश में चन्द्र और तारिकाओं की सृष्टि की !'

'यहाँ तक प्रजाजपति से कोई भूल नहीं हुई ?' महर्षि नारद ने बीच में रोककर कहा—'अपने प्रिय के लिये सब कोई सुख-सुविधा की चिन्ता किया करते हैं, भगवन् !'

'आगे सुनो।' भगवान् बोले—'यदि उन सारी वस्तुओं का ज्ञान हो तभी तो उनसे सुख-सुविधा का लाभ उठाया जा सकता है ? प्रजापति यह जानते थे। अतः उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानव को कोई श्रम न करना पड़े, कोई शारीरिक अथवा

मानसिक क्लेश न हो, प्रजापति ने संसार का सारा संचित एकत्रित ज्ञान-विज्ञान एक बड़े पिटारे में भर उसे मानव को सर्मपित करने की बात मन में ठानी। महर्षि! कितनी बड़ी भूल करने जा रहे थे, प्रजापति!'

'कैसे, प्रभो?' महर्षि नारद ने विस्मय से पूछा।

'नहीं, समझे?' भगवान् ने झुँझला कर कहा—'कितने अबोध हो तुम!'

'तभी तो सर्वदा आपके श्रीचरणों में रहता हूँ, प्रभो!' महर्षि नारद ने अत्यन्त विनीत भाव से उत्तर दिया।

भगवान् की झुँझलाहट जाती रही। उन्होंने महर्षि को समझाया—'देखो, महर्षि! यदि संसार का समस्त संचित एकत्रित ज्ञान-विज्ञान प्रजापति मनुष्य को यूँ ही दे डालते तो जानते हो वह फिर क्या बन जाता?'

'क्या बन जाता, प्रभो?'

'एक दूसरे प्रकार का पशु!' भगवान् ने कहा—'प्रजापति द्वारा यूँ ही दिये गये ज्ञान-विज्ञान द्वारा सहज में ही वह सब कुछ प्राप्त कर लेता और निकम्मा रहकर सारा मानव-जीवन आहार, निद्रा और विषयोपभोग में ही व्यतीत कर देता। श्रम और बुद्धि का उपयोग उसे सदा अज्ञात रहता और उसकी मानवता पशुता की तरह कभी भी विकसित न हो पाती। तो क्या महर्षि! प्रजापति की यह सर्वोत्कृष्ट कृति कलंकित न हो जाती?'

'तो अब आप क्या कर रहे हैं?' महर्षि नारद ने पूछा।

'प्रजापति की भूल का सुधार!' भगवान् ने उत्तर दिया—'अतः महर्षि! मैं आज प्रजापति द्वारा संचित एकत्रित संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान का वह पिटारा ही चुपके से चुरा

लाया हूँ; और उस सारे ज्ञान-विज्ञान को पर्वत, वन-उपवन, नदी-नद, समुद्र, पृथ्वी और आकाश में यत्र-तत्र बिखेर रहा हूँ; जिससे प्रजापति फिर ढूँढ़कर भी उसे संचित न कर सकें और उसे यूँ ही मानव को न दे सकें !'

'आपका उद्देश्य ?' महर्षि नारद ने फिर पूछा ।

'मानवता का चरम उत्कर्ष, महर्षि !' भगवान् ने उत्तर दिया—'जिससे मनुष्य अपने-अपने बुद्धि-बल और निरन्तर श्रम द्वारा सर्वत्र बिखरे हुये इस ज्ञान-विज्ञान को फिर से अपने आप अपनी आवश्यकतानुसार संचित करे। और महर्षि ! मानवता कभी भी पशुत्व में परिवर्तित न हो, यही तो सर्वदा मेरी इच्छा रहती है !'

'तो प्रभु !' महर्षि नारद बोले—'प्रजापति से कहीं अधिक मनुष्य की मानवता ही आपको प्रिय है, तभी तो उसके चरम उत्कर्ष को देखने की लालसा से आज आप चोरी करने पर उतारु हुये हैं !'

भगवान् महर्षि नारद के इस कथन पर लजा कर रह गये ।

बुद्धि की विशेषता

एक जिज्ञासु पुरुष ने एक दिन एक बहुश्रुत महात्मा से पूछा—'विज्ञ महात्मन् ! इन बुद्धिहीन पशु-पक्षियों में कोई चोर नहीं होता; कोई डाकू नहीं होता; कोई लुटेरा नहीं होता। परन्तु मनुष्य तो बहुत बुद्धिमान प्राणी है। फिर उसमें चोर, डाकू, लुटेरे क्यों हो जाते हैं ?'

'वत्स ! मनुष्य की बुद्धि की यही तो विशेषता है', बहुश्रुत विज्ञ महात्मा ने उत्तर दिया—'संसार में जो पशु-पक्षी नहीं हो सकता, मनुष्य वह भी हो सकता है—पंडित भी; ज्ञानी भी; तपस्वी भी; चोर भी; डाकू भी; लुटेरा भी !'

गरीबी-अमीरी

बहुत पुराने समय में, जिस समय सबसे पहिले इस पृथ्वी का कोई राजा हुआ, एक मनुष्य दो अपराधिनी स्त्रियों को पकड़कर राजा के सम्मुख लाया।

राजा ने पूछा—'इनका अपराध ?'

'इन दोनों का अपराध, राजन् !' उस मनुष्य ने उत्तर दिया—'प्रायः एक-सा ही है; पर है बहुत भयानक, जिसका दण्ड निर्मम मृत्यु-दण्ड भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता !'

'ऐसा क्या अपराध है इनका ?' राजा ने फिर पूछा।

उस मनुष्य ने एक का हाथ पकड़ कर कहा—'यह निर्दय ! संसार में जिसका हाथ पकड़ती है, उसे कभी भर-पेट भोजन नहीं देती, पहिनने को वस्त्र नहीं देती। इतना ही नहीं, सब दिन उसे पद-पद पर दूसरों से अपमानित कराती रहती है। इसकी निर्मम क्रूरता की सीमा पूरी तरह बताई नहीं जा सकती, राजन् ! बस, यह संसार में अपने आश्रितों को न कहीं सुख-चैन से जीने देती है और न सुख-चैन से मरने देती है !'

उस मनुष्य की बात सुनकर राजा ने क्रोध-भरी आँखों से उस स्त्री की ओर देखा।

उसके बाद उस मनुष्य ने दूसरी स्त्री का हाथ पकड़कर कहा—'राजन् ! यह पापिनी उससे भी अधिक दुष्टा है। यह

संसार में जिसका हाथ पकड़ती है, उसे तत्काल अपने प्रमाद से भर देती है। यह अपने से छोटों से नफरत करना सिखाती है। दिन-दिन मनुष्य का अहंकार बढ़ाती है। उसे दूसरों को लूटना सिखाती है। इसके दोष कहाँ तक कहूँ?—सब दिन इस भ्रष्टा-चारिणी के दाँयें हाथ में ऐयाशी भरी रहती है और बायें हाथ में निरे छल से भरा संसार का राग-द्वेष!'

दूसरी स्त्री का अपराध सुनकर राजा की आँखों में खून उबलने लगा। उसने तुरन्त अपने सैनिकों को बुलाकर कहा—'इन दोनों दुष्टा स्त्रियों को ले जाकर बन्दीगृह की काल-कोठरियों में बन्द कर दो। कल मैं इनका यथोचित न्याय करूँगा और इन्हें कठोर दण्ड दूँगा। आज मुझे अन्य महत्वपूर्ण राजकीय कार्य करने हैं।'

वह आदमी जो उन्हें पकड़कर लाया था, राजा की बात से संतुष्ट होकर लौट गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजा बन्दी-गृह में गया और उन दोनों अपराधिनी स्त्रियों में से एक को अपने सम्मुख बुला कर उसने पूछा—'पापिनी! तुझे अपना अपराध स्वीकार है?'

'हाँ, राजन्!' अपना सिर नीचा कर जोर-जोर से रोते हुये उसने उत्तर दिया।

'तुझे भी अपना अपराध स्वीकार है?' राजा ने दूसरी स्त्री से पूछा।

दूसरी स्त्री राजा से तनिक भी भयभीत नहीं हुई, उल्टे अपनी मुस्कुराहट में नारीत्व का सारा आकर्षण भर, उसे राजा के ऊपर एक ही दृष्टि में उड़ेलती हुई, मन्द मधुर स्वर में बोली—'हाँ, राजन्! स्वीकार है।'

राजा ने उस समय उसकी मुस्कुराहट की कोई परवाह नहीं की। वह नीची निगाह कर पहली स्त्री का न्याय लिखने बैठ गया। उसने पहिली स्त्री से, जिसकी जर्जर काया पर न कोई सुन्दर वस्त्र था, न कोई आभूषण, कहा—'मेरे आदेश से पापिनी ! जब तक तेरे शरीर से तेरे प्राण न अलग हो जाएँ, तुझे नगर के चौराहे पर खड़ा करके निरन्तर कोड़े लगाये जायेंगे !'

पहिली स्त्री अपना दण्ड सुनकर भय से काँपने लगी।

अपनी दण्डाज्ञा सुना कर राजा ने उससे पूछा—'तेरा नाम क्या है, अभागिनी ?'

'गरीबी !' उसने जोर-जोर से रोते हुये कहा।

उसका नाम सुनकर राजा ने अपने मन में कहा—'चलो, अच्छा हुआ; इस पापात्मा का तो संसार से नाश होना ही चाहिये !'

उसके बाद राजा ने दूसरी स्त्री से कहा—'तुम देखने में तो सभ्य-सुसंस्कृत-सी जान पड़ती हो। फिर भी तुम अपराधिनी तो हो ही ? मैं तुम्हें देश-निर्वासन का दण्ड देना चाहता हूँ। तुम अपने को उसके लिये तैयार करो !'

दूसरी स्त्री स्वभाव से बहुत उद्धत्त थी। अपने लिये देश-निर्वासन का दण्ड सुनकर भी, वह धीरे-धीरे निर्भीकता से राजा के सिंहासन तक बढ़ गई और अपनी कोमल बाहु राजा के मस्तक पर रखकर उसने स्नेहासिक्त वाणी में कहा—'उससे पहले एक बार मेरा नाम तो जान लो !'

'क्या नाम है तेरा ?' राजा ने पूछा।

'अमीरी !' उसने उत्तर दिया।

उसका नाम सुनते ही, राजा का वह कलम, जिससे वह उसका न्याय लिख रहा था, उसके हाथ से छूट कर पृथ्वी पर जा गिरा और कुछ देर के लिये राजा ने अपनी निगाह उसके सलोने चेहरे पर टिका दी ।

उस दूसरी स्त्री के चेहरे में न जाने कैसा जादू था कि कुछ क्षण बाद ही राजा ने उसका हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींचते हुये कहा—'फिर भी तुम्हारे अपराध का दण्ड तो मैं तुम्हें दूँगा ही ! अब मैं तुम्हें जन-जन में स्वच्छन्दता से नहीं घूमने दूँगा; सदा अपने राज्याश्रय में ही बन्दी रक्खूँगा !'

राजा की यह दण्डाज्ञा सुनकर अमीरी ने उसी समय अपनी कोमल बाहुएँ राजा के मस्तक पर से उठाकर उसके गले में डाल दीं ।

उसी दिन से अभागिनी गरीबी राजाज्ञा से निशदिन नगर के चौराहे पर खड़ी होकर अनगिनत कोड़े खाने लगी; परन्तु न जाने विधि ने उसकी वज्र देह कैसी अजर-अमर कर इस संसार में भेजी थी कि निशदिन निरन्तर कोड़े खाकर भी वह असीम वेदना से कराहती सब दिन जीती रही, पर मरी आज तक नहीं और कौन जानता है आगे भी कभी मरेगी या नहीं !

भेड़ियों का सह-अस्तित्व

एक दिन बकरे-बकरियों के झुण्ड में किसी पशु ने जाकर कह दिया—'सारे संसार का पुराना समय अब बदल गया है; सारे संसार के राजाओं की मान्यता अब बदल गई है; सारे संसार में सह-अस्तित्व के सिद्धान्त—स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो—की बात मान ली गई है। तुम सब भी अब अपने प्राणों से निर्भय हो जाओ। अब न कोई किसी को सतायेगा, न कोई किसी का हनन करेगा!'

बकरे-बकरियाँ यह बात सुनकर खुशी से नाचने लगे। सृष्टि के आरम्भ से तो वे दूसरों का आहार ही होते आये थे। आज संसार की हजारों-लाखों सदियाँ बीत जाने पर मन में यह विश्वास हुआ—इस संसार में भगवान् भी हैं; इस संसार में धर्म भी है; इस संसार में न्याय भी है! इस संसार में भगवान् न होते तो सृष्टि के आदि से बना हुआ यह नियम—बलवान निर्बलों को खा जाते हैं—आज कैसे बदल जाता? संसार में धर्म न होता तो यह इतने अतीत काल से निरन्तर चलता आया पाप आज कैसे विनष्ट हो जाता? और यदि इस संसार में न्याय न होता तो आज बलवानों के अन्याय का कैसे प्रतिरोध होता?

बहुत देर खुशी में मस्त रहकर बकरे-बकरियों ने आपस में सलाह की—'आज हमारे हित में ही नहीं, संसार में रहने

वाले सब निर्बलों के हित में, इतना महान् कार्य हुआ है, जैसा आज से पहिले, इस संसार के इतिहास में, कभी नहीं हुआ। अतः आज सबको सम्मिलित होकर उन राजाओं को धन्यवाद देने के लिये एक सभा करनी चाहिये। और हम सब वन के वासी हैं, अतः साथ-साथ हमें भी एक धन्यवाद-प्रस्ताव अपने वन के राजा के पास भी ले जाना चाहिये। राजा-राजा सब समान होते हैं; चाहे वह वन का राजा हो, चाहे नगर का राजा। राजाओं की मान्यता भी सबकी एक समान ही होती है—वैसा ही आतंक, वैसा ही दबदबा; वैसा ही राज-भय ! फिर सारे संसार में तो हमारे वन का राजा भी आ जाता है !'

इस बात में किसी को क्या आपत्ति होती ! सब बकरे-बकरियों ने मिलकर एक सभा की और उस सभा में उन्होंने संसार के सब राजाओं को 'स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो' वाले सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मान लेने पर धन्यवाद दिया। एक धन्यवाद-प्रस्ताव, इसी बात को मान लेने पर, अपने वन के राजा के लिए भी पास किया और सभा के अन्त में उस धन्यवाद-प्रस्ताव को लेकर बकरे-बकरियों का वह झुण्ड पहिली बार निर्भीक हो अपन वन के राजा के पास गया।

उस वन का राजा एक भेड़िया था। वह बहुत खूँख्वार था। वह प्रतिदिन दस-पाँच बकरे-बकरियों को मार डालता था। उस समय वह पड़ा हुआ मीठी नींद सो रहा था।

बकरे-बकरियों के पैरों की चाप से उसकी आँख खुल गई, परन्तु आज बहुत देर तक वह ज्यों का त्यों अलसाया-सा सुस्त पड़ा रहा; इससे पहिले वह खूँख्वार भेड़िया, जब कभी

उन बकरे-बकरियों में से किसी को देख पाता, तो तुरन्त पवन के वेग से उसे मारने को उस पर झपट पड़ता था।

बकरे-बकरियों ने उस दिन उसका यह व्यवहार देख उस पशु की कही हुई बात को सत्य समझा—'सचमुच अब सारे संसार के राजाओं की पहिली मान्यता बदल गई है;—अब वे निर्बलों को भी संसार में जीने देंगे!

और अब सब बकरे-बकरियाँ अपने दोनों पैर ऊपर उठाकर अपने वन के राजा भेड़िये का अभिवादन करते हुये जोर-जोर से अपना धन्यवाद-प्रस्ताव पढ़ने लगे—'हम सब संसार के निर्बल प्राणी, किस तरह तुम्हें धन्यवाद दें, ओ वन के राजा भेड़िये! सारे संसार के साथ अब तुमने भी अपनी पुरानी मान्यता बदल दी—स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो—वाले सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मान लिया। अब तुमने बकरे-बकरियों का आहार छोड़ दिया!'

'आहार छोड़ दिया!' की बात सुनकर भेड़िया अपना आलस छोड़ तत्काल तनकर खड़ा हो गया और खूनी आँखों से उन सबको देखने लगा।

बकरे-बकरियाँ उसकी खूनी आँखें देख सहम गये और उन्हें ऐसा लगा जैसे यह अभी हम सबको मारकर खा जायेगा; परन्तु सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की बात अभी भी उनके मन में घूम रही थी। अतः वे भागे नहीं। जोर-जोर से उसकी जयकार करने लगे।

भेड़िया दोपहर से सोया पड़ा था। अब शाम होने को आ रही थी। बहुत-से बकरे-बकरियों को निश्चल भाव से अपने सामने खड़ा देखकर उसकी आँतें कुलबुलाने लगीं और पवन के

वेग से वह उनके झुण्ड पर टूट पड़ा। एक ही झपाटे में उसने तीन-चार को पकड़ लिया। जो बाकी बचे, सब हाहाकार और आर्त्तनाद करते हुये अपने पूरे बल से पीछे भागे।

जो उस भेड़िये की पकड़ में आ गये थे, उन्होंने मरते हुये अपने राजा भेड़िये से कहा--'और तुम्हारा वह सह-अस्तित्व--स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो--वाला सिद्धान्त ?'

'मूर्खों ! तुम्हारे साथ सह-अस्तित्व की पहिली बात--(अपने जीने की बात)--तो अपने वन में आरम्भ कर रहा हूँ;—तुम्हें मार कर नहीं खाऊँगा तो मैं जीऊँगा कैसे ? और दूसरी बात--(दूसरों को जीने दो)--जब वन के हाथी-शेर, मुझसे बलशाली पशु, मेरे सामने आएँगे, तब आरम्भ करूँगा;—उन्हें जीने दूँगा !'

नाचने वाले का पैर

एक राजा अपने स्वभाव से वीर था। एक दिन उसके दरबार में कहीं विदेश से एक नृत्य करने वाला आया। वह नाचने की कला में बहुत प्रवीण था। नाचते समय उसके हाव-भाव इतने मन को मुग्ध करने वाले थे कि सारा राज-दरबार उसकी प्रशंसा करते-करते थक गया। राजा के मन पर तो अपने राज-दरबारियों से भी कहीं अधिक प्रभाव पड़ा। उसने उसे जीवन-वृत्ति देकर अपने पास ही रख लिया और प्रतिदिन उसका नृत्य देखने लगा।

नृत्य देखते-देखते एक दिन उस राजा के मन में भी यह भाव पैदा हुआ—'यदि ऐसी नाचने की कला मुझे भी आ जाती तो इसी तरह प्रतिदिन मेरे राज-दरबारी मेरी भी प्रशंसा किया करते!'

नाचने वाले ने राजा के मन का भाव ताड़ लिया। और एक दिन सुअवसर देख उसने राजा से कहा—'यह नाचने की कला तो वास्तव में राजा और राज-दरबारों की ही कला है। राजा और राज-दरबारी यदि इसके ज्ञाता हो जाएँ तो यह कला और भी अधिक उन्नत हो जाए!'

उसकी यह बात राजा के मन भा गई। उसने मन लगाकर नाचने की कला सीखनी आरम्भ की और कुछ ही दिनों में राजा नाचने की कला में उससे भी अधिक पारंगत हो गया, जैसा उसका गुरु था। राजा का मन उस कला में बहुत रमा।

अतः उसने नाचने की कला में प्रवीणता ही नहीं प्राप्त की, उसमें बहुत से नये-नये आविष्कार भी किये ।

अब प्रतिदिन उसके राज-दरबारी उसके नाचने की कला की उसके गुरु से भी अधिक प्रशंसा किया करते थे । राजा को भी अब नाचने की कला से बहुत प्रेम हो गया था, इसलिए उसने नाचने की कला के नगर-नगर गाँव-गाँव अनेक विद्यालय खुलवा दिये और उनके लिए राज्य की ओर से बहुत से धन की स्वीकृति दे दी ।

इस सृष्टि का नियम यही है जो राजा के गुण-अवगुण होते हैं, उन्हें उसकी प्रजा, उसके आश्रित, शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं ।

धीरे-धीरे उसकी सेना में, उसकी पुलिस में, उसके विभिन्न राजकीय विभागों—मन्त्रालयों तक——में नाचने की कला का विस्तार होने लगा और नित्य के स्नान-भोजन की तरह सब लोग नाचने को भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता समझने लगे । परिणामतः उसकी प्रजा में अन्य आवश्यक विद्याओं का ह्रास होने लगा, नाचने की विद्या बढ़ने लगी । राजा अपनी मन-चाही नाचने की कला के विस्तार को देखकर बहुत ही प्रसन्न था ।

कुछ दिनों बाद विदेश का उसका एक मित्र राजा उसका अतिथि हुआ । राजा ने उसे अपनी पुलिस, अपनी सेना, अपने मन्त्रालय, अपनी प्रजा सबमें ले जाकर नाचने की कला का विस्तार दिखलाया । उसका सेनापति भी नाचता था और उसका कोतवाल भी; उसका मन्त्री भी प्रसन्नता से नाचता था, और उसका कोषाध्यक्ष भी । उनकी तन्मयता देखने लायक

थी। नाचते समय वे अपने राजा, अपनी पुलिस, अपनी सेना, सभी को भूल जाते थे।

उसका अतिथि राजा उसके राज्य में, राज्य परिवार में, नाचने की कला की ऐसी विलक्षण उन्नति देख बहुत प्रसन्न हुआ और बहुत प्रभावित भी।

राजा ने उससे बहुत आग्रह किया—'तुम भी नाचना सीख लो। मैं तुम्हें बहुत थोड़े समय में ही इस विद्या में प्रवीण बना दूँगा!'

पर उसने राजा का वह आग्रह स्वीकार नहीं किया, किन्तु बहुत दिनों तक वह उनका अतिथि बन कर रहता रहा। प्रतिदिन उसका, उसके दरबारियों का, उसके सेनापति का तथा प्रजा-जनों का घूम-घूम कर तन्मयता से नाचना देखता रहा और जाते समय उस राजा के बहुत से प्रमुख नाचने वालों को अपना वेतनभोगी बनाकर अपने साथ लेता गया।

कुछ समय बीतने के बाद उसने अपने मित्र उस नाचने वाले राजा के ऊपर उसने प्रबल आक्रमण कर दिया और बड़ी तेजी के साथ उसकी सेना को दबाता हुआ उसके राज्य के भीतरी भागों में घुसता चला आया।

नाचने वाले राजा, उसके राज-पुरुषों, सेना तथा अधिकारियों का बहुत समय स्वयं नाचने और नाचने की कला के विस्तार की योजनाएँ बनाने में ही बीतता था। अतः राज्य के सभी संगठन ढीले पड़ चुके थे। वे सब आक्रमणकारी के पहिले ही प्रहार में टूटते चले गये। प्रजा कला की उपासक हो गई थी, श्रम से डरने लगी थी। वह आक्रमणकारी का विरोध किये बिना ही पीछे हटती गई।

नाचने वाला राजा स्वभाव से वीर और साहसी था। उसने जब यह समाचार सुना तो अपनी सेनाओं को फिर व्यवस्थित कर हाथ में तलवार लेकर वीर-पुरुषों की भाँति शत्रु के सम्मुख आ गया और ललकार कर उसने कहा—'वीर हो तो आओ, मुझसे युद्ध करो!' आक्रमणकारी उसका मित्र राजा जानता था—'युद्ध में नाचने वाले राजा को मैं पराजित नहीं कर सकता। यह बहुत वीर है, अद्भुत पराक्रमी है।' अतः उसकी ललकार का कोई उत्तर न देकर उसने उसी समय अपने वेतनभोगी उस राजा के सिखाये हुये नाचने वालों को कुछ इशारा किया।

तत्काल वे अपने-अपने घोड़ों से नीचे कूदकर नाचने वाले राजा के सम्मुख आ खड़े हुये और विभिन्न हाव-भाव दिखाकर उसके सामने नाचने लगे।

उनके नाचने के ताल, लय और ध्वनियों ने दस-पाँच क्षण में ही उस नाचने वाले राजा के मन में गुदगुदी-सी पैदा कर दी और उसके हाथ-पैरों में कम्पन। जैसे-जैसे राजा के सामने नाचने वालों के हाथ-पैरों की गति बढ़ती गई, वैसे-वैसे ही उस नाचने वाले राजा के हाथ-पैरों में भी कम्पन बढ़ता गया और उस बढ़ते हुये उसके कम्पन ने कुछ ही क्षणों में उसकी तलवार उसके हाथ से नीचे गिरा दी।

आक्रमणकारी, उसका मित्र राजा, इसी क्षण की ताक में था। उसने झपट कर उसी क्षण नाचने वाले राजा का सिर धड़ से अलग कर दिया।

राजा के नीचे गिरते ही साहस और अपना बल खोई हुई उसकी सेना भी तुरन्त भाग गई।

पुष्टई की दवा

रामकिशोर रात के अँधेरे में चुपचाप रजनी के कमरे के द्वार से आ लगा और दो मिनट चारों ओर सतर्क दृष्टि से देखकर उसने रजनी के द्वार पर अपनी तरह की एक निश्चित आहट पैदा की।

रजनी दौड़कर तुरन्त अपने कमरे के द्वार पर आई।

रामकिशोर ने उसका हाथ पकड़कर कहा—'आज...'

'नहीं', रजनी ने बहुत धीमी आवाज से कहा—'आज तो वे संध्या से ही घर पर हैं और दस-पाँच मिनट को भी कहीं बाहर जाने वाले नहीं !'

रामकिशोर ने कहा—'फिर भी कोई उपाय ! ......'

'कुछ नहीं !'

'कुछ, तो सोचो !'

'पागल हुये हो ! जब वे घर पर हैं—मैं क्या उपाय कर सकती हूँ; मैं लाचार हूँ !'

'मैं बताऊँ ?'

'बताओ !'

'लो', रामकिशोर ने अपना हाथ बढ़ाकर कहा—'ये दो नींद की गोलियाँ हैं। इन्हें किसी तरह आज उन्हें खिला

दो ! कल मैं चार-पाँच दिन के लिये शहर से बाहर जा रहा हूँ, इसीलिए आज तुमसे इतना आग्रह कर रहा हूँ ।'

'पर खिलाऊँ कैसे ?'

'दूध या चाय में !'

'खाने-पीने में बहुत सयाने हैं; शक्की हैं; सब चीजों का स्वाद पहिचानते हैं । तुरन्त पहिचान लेंगे !'

'यह तुम जानो; कुछ भी करो !'

'मैं क्या जानूँ ? कोई छोटे-से बालक थोड़े ही हैं; जो जबर्दस्ती उनके गले में उतार दूँगी !'

रामकिशोर ने अपना मुँह फुलाकर कहा—'तुम नहीं जानती, तो लो मैं जा रहा हूँ और आज के बाद फिर कभी तुम्हारे पास नहीं आऊँगा !'

'ऐसा मत करना !' रजनी ने घबड़ाकर अपनी दोनों बाहें रामकिशोर के गले में डालकर कहा ।

रामकिशोर ने उसके दोनों हाथ नाराजगी के साथ अपने गले से दूर करते हुये कहा—'फिर कोई उपाय करो ना आज ?'

'अच्छा', रजनी ने मन ही मन कुछ सोचकर उत्तर दिया—'तुम नाराज मत होओ । मैं सच कहती हूँ—मेरा वश चलेगा तो मैं कुछ न कुछ अवश्य ही करूँगी !'

'बस, ठीक है ।' रामकिशोर ने प्रसन्न होकर कहा—'मैं आज रात भर तुम्हारे कमरे के आस-पास ही रहूँगा !'

रजनी लौटकर जब अपने पति के पास कमरे में आई तब वे मनोयोगपूर्वक 'मनोरमा' की कोई कहानी पढ़ रहे

थे। उन्होंने रजनी के आते ही लापरवाही से पूछा—'कौन था ?'

'वही, पड़ौसिन का रामू !' रजनी ने उत्तर दिया—'दिन भर यहीं आँगन में खेलता रहता है। रात में कभी-कभी अपनी माँ की आँख बचाकर मीठा मुँह करने के लालच में मेरे पास दौड़ आता है। आज घर में कुछ था ही नहीं, जो उसे कुछ दे देती। पगले को बहुत देर समझा-बुझाकर अपने घर लौटाया है !'

रजनी के पति ने अपनी कहानी पढ़ते-पढ़ते ही कहा—'कल से कचहरी से वापसी में मैं उस शैतान के लिये जरूर कुछ मीठा ले आया करूँगा !'

रजनी अपना अधबुना स्वेटर अपने हाथ में उठाकर अलग से अपने पलंग पर जा बैठी।

कुछ देर बाद उसके पति ने 'मनोरमा' को रख दिया और अलसाये भाव से एक अँगड़ाई लेते हुये कहा—'रोशनी बन्द करो; अब सोयेंगे।'

रजनी दूसरी विवाहिता थी। अपने पति के मन चढ़ी हुई थी। पति के यह कहते ही अपने पलंग से कूदकर उसने अपनी दोनों बाहें अपने पति के गले में डालकर मुग्ध भाव से कहा—'आज मेरी एक बात मानोगे ?'

'क्या ?'

'मैंने तुम्हारे लिए खाने की कोई चीज बनाई है !'

'पर इस समय मुझे भूख नहीं है !'

'भूख के लिये नहीं !'

'तब ?'

रजनी ने अपना मुँह दूसरी ओर फिराकर बन्द कर लिया............

'कोई दवा है ?'

'हाँ !'

'किसने बताई ?'

'मेरी भाभी कभी-कभी मेरे भैया को खिलाया करती थी। आपको मालूम नहीं—मेरे भैया ने बहुत बड़ी अवस्था में अपनी शादी की थी।......बड़ी अच्छी दवा है !'

'तब ले आओ।'

'पर एक बात है ?'

'क्या ?

'उसे पीकर पहिले-पहल कुछ देर बहुत घुमेर आती है; भारी नशा छा जाता है; आँखें बन्द हो जाती हैं।......सो मत जाना !'

'कोशिश करूँगा—नींद न आये !'

'कोशिश नहीं; वायदा करो—सोओगे नहीं ?'

'अच्छा, नहीं सोऊँगा !'

रजनी ने तुरन्त भीतर जाकर रामकिशोर की दी हुई नींद की दोनों गोलियाँ दो चम्मच पानी में घोलकर अपने पति को पिला दी। दस मिनट में ही वे अचेत होकर सो गए।

प्रात:काल जब उनकी नींद खुली तो उन्होंने अपनी आँखें दो-तीन बार मलकर बहुत पछताते हुये रजनी से कहा—'आज पहिली ही बार पुष्टई की दवा तुमने दी थी। उसकी घुमेर सह न सका। आज फिर वही दवा पिलाना। मैं आज उसे पीकर अपने पलंग पर पैर नहीं रक्खूँगा, जिससे उसकी घुमेर मुझ पर हावी न हो पाये!'

रजनी ने अपने होठों में बहुत मीठी मुस्कुराहट भरकर अपने पति को उत्तर दिया—'आज नहीं, दो-चार दिन बाद फिर। जहरीली दवा है; रोज-रोज नहीं खायी जाती!'

संसार का नियम

एक चक्की को गेहूँ-चना पीसते देखकर एक दर्शक ने उससे पूछा— 'अरे, तू कैसी धूर्त है;—दूसरों को पीसती है और अपने आप चीखती है ?'

'बन्धु ! तू नहीं जानता।' चक्की ने उत्तर दिया— 'इस संसार में उसी की पूछ और सुनवाई होती है, जो दूसरों को पीसता भी रहे और अपने आप चीखता भी रहे !'

अमृत और विष

सृष्टि के आरम्भ काल में अमृत और विष दोनों एक पर्वत-शिखर पर बैठे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे।

विष कह रहा था—'अमृत बन्धु! तुम बहुत चतुर हो। तुमने अपने रहने के लिए कैसे सुन्दर स्थान चुने हैं;—चन्द्रमा में जा बैठे हो, जिसे देखते मन नहीं अघाता; फूलों में जा बसे हो, जिनकी सुरभि से दिग्दिगन्त सुरभित हो उठते हैं!'

अमृत कह रहा था—'विष बन्धु! तुम तो मुझसे भी बढ़कर हो;—रमणियों की आखों में जा बसे हो, जिन्हें छूकर मनुष्य तड़फ उठता है! कभी चैन नहीं पाता। जब चाहते हो, मनुष्य की वाणी से जा मिलते हो, जिसके प्रभाव से एक दूसरे को मारने पर उतारु हो जाता है!'

एक शिखर के वासी ने, जो बहुत देर से खड़ा दोनों की बात सुन रहा था, अमृत और विष से कहा—'मित्रों! मैं समझता हूँ, तुम दोनों मूर्ख हो। संसार में, तुम दोनों के रहने के लिए, जो सबसे अधिक उपयुक्त स्थान था, वह तुम दोनों ने आज तक जाना ही नहीं!'

'कौन सा?' अमृत और विष ने पूछा।

'मूर्खों !' शिखर-वासी ने उत्तर दिया—'मनुष्य का हृदय ! उसको अधिकृत कर लेने से इस सारे जग पर ही अधिकार हो जाता है !'

शिखर-वासी का उत्तर सुनकर, मनुष्य के हृदय पर अपना पूर्णाधिकार स्थापित करने के लिए, अमृत और विष एक साथ पर्वत के शिखर से नीचे कूद पड़े।

दोनों ही समान बलशाली थे। एक साथ ही दोनों ने मनुष्य के हृदय पर प्रहार किया।

तब से अब तक, मनुष्य के हृदय को, कभी अमृत जीत लेता है और कभी विष। दोनों का परस्पर विग्रह सृष्टि के आदि-काल से इसी प्रकार चला आ रहा है; अन्त में कौन विजयी होगा, कौन पराजित; इसे कौन जानता है !

नया सम्बन्ध

एक दिन एक सैलानी स्त्री और एक पुरुष मंसूरी से लौटते हुए हरिद्वार हर की पौड़ी पर पहुँचे। गरमी के दिन थे। गंगा का शीतल जल देखकर दोनों का मन ललचाया। दोनों मन भर कर गंगा नहाये। नहा-धोकर जब वे चलने को तैयार हुए तो एक पंडे ने उनका रास्ता रोककर कहा—'बाबू लोगों! यह तीर्थ स्थान है; गंगा का पवित्र तट है। यहाँ पर सच्चे मन से जो ब्राह्मण को दान दोगे, वह, अनन्त समृद्धि बनकर तुम्हारे जीवन में फले-फूलेगा!'

दोनों को उसकी बात समझ आई। दोनों ने मिलाकर चार रुपये उस पंडे के हाथ पर रख दिये।

पंडा बहुत कार्य-कुशल था। उसने तत्काल दोनों के दाहिने हाथ पर दो-दो फूल और एक-एक चुल्लू गंगाजल रखकर कहा—'विधि-विधान से दान लूँगा, बाबू लोगों! अब मैं शास्त्रोक्त संकल्प बोलता हूँ। आप दोनों सच्चे मन से अब अपना-अपना ध्यान करो।'

दोनों धार्मिक श्रद्धा से अपना मन भर नीचे गंगा-तट पर बैठ गए।

पंडे ने दोनों के दान का, दोनों का सम्मिलित शास्त्रोक्त संकल्प पढ़ा—'ओउम् अथ तत्सत् कलियुगे कलिप्रथमचरणे भारतदेशान्तर्गत उत्तराखण्डे हरिद्वारे गंगातटे पवित्र गंगा

जल स्नानोत्तरं अमुक नाम पति-पत्नी द्वारा प्रदत्तं चत्वारि रुप्यकाणि......'

दोनों सैलानी उच्च शिक्षित थे। दोनों ने अपने शिक्षा-काल में संस्कृत भाषा पढ़ी थी। दोनों ने एक साथ बीच ही में टोककर पंडे से कहा—'हम दोनों महाराज, आपस में पति-पत्नी नहीं हैं!'

उनके बोलते ही चतुर पंडे ने अपनी सन्तुलित दृष्टि से दोनों को एक बार ध्यान से देखकर तत्काल अपने संकल्प-पाठ में परिवर्तन कर कहा—'क्षमा करना, बाबू लोगों! मैंने ध्यान से नहीं देखा था—भाई-बहिन—भ्रातृभगिनी द्वारा प्रदत्तं......'

यह संकल्प-पाठ सुनकर दोनों को जैसे बिच्छू ने काट खाया। दोनों तत्काल तडपकर बोले—'क्या गलत-सलत संकल्प पढ़ रहे हो, पंडित जी! हम दोनों आपस में भाई-बहिन कहाँ हैं; हम तो कालेज के फ्रैण्ड हैं!'

पंडा अंग्रेजी पढ़ा हुआ नहीं था। उसने फ्रैण्ड का पूरी तरह अर्थ नहीं समझा। गंगा-किनारे उसके और बहुत से यजमान खड़े हुए थे। जल्दी से अपना काम निपटाने के लिए उसने दूसरी बार, अपना संकल्प-पाठ परिवर्तित कर उन दोनों के दान का संकल्प इस तरह पढ़ा—'फ्रैण्डफ्रैण्डिनी द्वारा प्रदत्तं चत्वारि रुप्यकाणि फ्रैण्ड-फ्रैण्डिनीजीवने अनन्त सुखसमृद्धि कारणं भवन्तु!'

अन्धों का संग

संयोग से एक दुर्गम वन की यात्रा में सब यात्री सूरदास थे; केवल एक ही यात्री आँखों वाला था। आँखों वाला कुछ दूर चलकर उनसे परेशान हो गया। वें सब अपनी ही चलाते थे। उसकी कोई बात मानते ही न थे।

यात्रा-पथ सबका अपरिचित था। चलते-चलते सामने दूर से एक बड़ा गड्ढा दिखाई दिया। आँखों वाले ने उनसे कहा—'बन्धुओं ! सामने बड़ा-सा गड्ढा है; सम्भल कर चलना।'

उसकी बात सुनते ही एक ने दूसरे का हाथ पकड़कर परस्पर अविश्वास से एक से दूसरे ने पूछा—'क्या तुम भी अपने सामने गड्ढा देख रहे हो ?'

'नहीं, नहीं !' एक ने दूसरे को उत्तर दिया।

'झूठ; झूठ; कतई झूठ !' सब सूरदास एक साथ चीख पड़े—'कोई झूठा है, जो हमें धोखा देना चाहता है !'

चलते-चलते गड्ढा आ ही गया और सब सूरदास अपने पथ में आगे बढ़ते-बढ़ते उस गड्ढे में एक दूसरे के ऊपर जा गिरे।

आँखों वाले ने अपने मन में कहा—'अब इन अविश्वासियों से कुछ न कहूँगा !'

जैसे-तैसे सब सूरदास फिर आपस में सम्हल कर उठे और उस गड्ढे को पार कर आगे बढ़े।

कुछ दूर चलकर सामने एक टीला आ गया। सूरदास जब उसके निकट पहुँचे तो आँखों वाले से फिर न रहा गया। उसने चीखकर फिर कहा—'बन्धुओं! अब सामने एक ऊँचा टीला है। सम्हलकर चलना; कहीं उससे टकरा न जाओ।'

उसकी बात सुनकर फिर एक ने दूसरे का हाथ पकड़कर पूछा—'तुमने देखा, भाई? तुमने देखा भाई?'

सबने कहा—'नहीं, भाई! नहीं, भाई!'

पाँच-दस क्षण बाद ही सब उस टीले से टकरा गए और उनके घुटने जख्मी हो गये। जैसे-तैसे अपने घुटनों पर पट्टी बाँधकर सबने उस टीले को पार किया, पर उस टीले को पार करते समय सबके मन में यह पछतावा रहा—'हमने इस बार भी अपने साथी की बात क्यों नहीं मानी? वह सच्चा है' झूठा नहीं!'

दुर्गम वन अब आधे से अधिक पार हो गया था। कुछ दूर आगे चलते-चलते सामने एक चीता आ गया। आँखों वाले ने देखा तो—'सामने चीता, सामने चीता, बन्धुओं!' चिल्लाता हुआ, अपनी प्राण-रक्षा के लिए दौड़कर वह एक वृक्ष पर चढ़ गया।

सूरदासों ने सुना तो अपने-अपने प्राणभय से घबराहट में एक दूसरे के ऊपर जा गिरे।

चीता उनके सामने बढ़ता ही गया। आँखों वाले से यह देखा न गया। वह तत्काल वृक्ष के ऊपर से नीचे कूद पड़ा और अपनी कमर से कटार निकाल उससे जूझ गया।

पूरे मुहूर्त भर लड़कर उसने चीते को मार गिराया। पर चीते के साथ हुई इस लड़ाई में वह स्वयं भी इतना क्षत-विक्षत और आहत हो गया कि बहुत देर तक अपनी जगह स्थिरता से खड़ा न रह सका और मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा।

चीते के मरकर नीचे गिरते ही सब सूरदास सचेत हुए और सावधानी से एक दूसरे का हाथ पकड़, अचेत आँखों वाले को वहीं छोड़, तत्काल उस वन से भाग निकले।

आँखों वाला एक मृतक के समान वहीं पड़ा रह गया!

नयी विद्या का उपदेश

एक पुरोहित ने एक दिन अपने एक धनी यजमान से कहा—'यजमान ! भगवान् ने तुम्हें सब कुछ दिया है; अब परमार्थ किया कर ?'

'तुम्हारे कहने का क्या अर्थ है, पुरोहित ?' यजमान ने पूछा।

'परमार्थ का अर्थ है—दूसरों का भला करना !' पुरोहित ने उत्तर दिया—'दूसरों का भला किया कर !'

'अच्छा तो मैं अपना बुरा किया करूँ ?' यजमान ने पूछा।

'नहीं', पुरोहित ने कहा—'अपना भी भला किया कर !'

यजमान ने कहा—'महाराज ! जब अपना भला करूँगा तो दूसरों का भला कैसे करूँगा ? वस्तु तो एक ही है; उसे अपने पास रखूँगा या दूसरों को दे दूँगा ?'

'अच्छा तो यजमान ! इतना तो किया कर', पुरोहित ने कहा—'किसी को सुख नहीं दे सकता तो अपने हाथ से किसी को दुख भी मत दिया कर !'

'तब अपने को अपने हाथ से दुख दिया करूँ?' यजमान ने कहा—'संसार में दूसरों को दुख न दिया जाये तो पंडित

जी ! मनुष्य के पास इस महंगे युग में सुख के पूरे साधन कहाँ से जुटाये जायें ?'

'अच्छा', पुरोहित ने कहा—'तब यजमान ! संसार की भलाई-बुराई से अपने को तटस्थ ही रख लिया कर;—इस स्थिति में भी मनुष्य पाप-पुण्य के स्पर्श से बचा रहता है !'

'हाँ, गुरु ! यह उपदेश तो तुम्हारा कुछ मन को लगता है'; यजमान ने क्षण भर सोचकर उत्तर दिया—'परन्तु महाराज ! यदि मैं व्यक्ति न होकर कोई स्वतन्त्र देश होता तो आजकल तटस्थ होकर रहने में मुझे बहुत लाभ होता—अरबों-खरबों रुपया दूसरे धनी देशों से कर्जा माँग लेता; पर अब तो संसार की भलाई-बुराई से तटस्थ होकर रहने में भूखा मर जाऊँगा या भिखारी होकर द्वार-द्वार रोटी माँगता फिरूँगा !'

उसका उत्तर सुनकर पुरोहित चुप होकर रह गया।

'चुप क्यों हो गये, मेरे धर्मगुरु ?' यजमान ने कुछ क्षण बाद पूछा।

'यजमान !' पुरोहित ने मरी-सी वाणी से उत्तर दिया—'ये तीन स्थिति ही तो मनुष्य के कल्याण के मार्ग की शास्त्रों में लिखी हैं। चौथी कौन-सी स्थिति का उपदेश तुम्हें दूँ ?'

'अच्छा, गुरु ! समझा। तुमने पुरानी विद्या ही पढ़ी है, नयी नहीं।' यजमान ने किंचित् मुस्कुरा कर कहा—'आजकल की नई विद्या का यह चौथा उपदेश क्यों नहीं देते—यजमान ! अपनी ही चिन्ता किया कर; अपना ही पेट भरा कर; स्वार्थ ही

इस कलिकाल में मनुष्य-जीवन के सुख का मूल है; परमार्थ की बात सोचेगा तो भूखा मर जायेगा; व्यापार बिगड़ जायेगा; साहूकारा टूट जायेगा। रही पाप-पुण्य के स्पर्श की बात? उसके धोने वालों की तो आज संसार में कमी नहीं! पर, जिनका पेट भरा होता है, उनके पास ये बिना बुलाये ही दौड़ आते हैं, और भूखों के पास बार-बार बुलाने पर भी तो कभी नहीं जाते!'

जन-हित : जन-सेवा

संसार में भ्रमण करते हुए एक देश में समाजवाद, जनतन्त्र और साम्राज्यवाद तीनों एक साथ आ गए। तीनों ही को वह देश पसन्द आया। उस देश में अन्न भी था, वस्त्र भी, रत्न भी थे, स्वर्ण भी। तीनों ही उस देश को स्वायत्त करने की अभिलाषा करने लगे; किन्तु तीनों की ही सिद्धि प्रचार पर अवलम्बित थी।

समाजवाद ने अपनी घोषणा की—'मैं पूँजीवाद से घृणा करता हूँ। मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता को पूरी करना मेरा धर्म है। मेरे मत में संसार की प्रत्येक भौतिक वस्तु पर प्रत्येक मनुष्य का समान अधिकार है!'

जनतन्त्र ने कहा—'मनुष्य का विकास मेरे द्वारा ही सम्भव है। मैं मनुष्य को नीचे स्तर से उठाकर ऊपर लाता हूँ। समानाधिकार मेरे मत में भी है, किन्तु मेरे सब कार्य बहुमत से ही सम्पन्न होते हैं। जनहित की भावना ही मेरा मूल है!'

पूँजीवाद ने कहा—'मैं साम्राज्यों की रचना किया करता हूँ। प्रतिदिन मेरे बल से साम्राज्य बना-बिगड़ा करते हैं। पूँजी के प्रभाव से बुद्धिवादी, धार्मिक, विज्ञानवेत्ता सभी तो स्ववश होते हैं! मानव-कल्याण मेरा भी नारा है!'

देशवासी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह गए।

तीनों ही जन-हित, जन-सेवा की दुहाई दे रहे थे!

आतिथ्य-लाभ

जनक चार दिन से प्रबोध का मेहमान था । पहिले दो दिन में ही प्रबोध की सरलता का उसने पूरा लाभ उठाया । घर के लोगों की तरह ही प्रबोध के परिवार में घुल-मिल गया ।

प्रबोध का अपना परिवार ही कुल तीन प्राणियों का था—वह, उसकी स्त्री और उसकी बहन सुधा। सुधा पूरे अट्ठारह वर्ष की थी । बी० ए० फाईनल में पढ़ रही थी ।

जनक चार दिन में ही उससे इस तरह बातें करने लगा, जैसे उसकी उससे बहुत पुरानी जान-पहिचान हो और उसके भले-बुरे का उससे भी कोई वास्ता न हो । सुधा पहिले कुछ झिझकी, कुछ शर्माई, फिर वह भी उससे उसी तरह बातें करने लगी, जैसे उसकी सब बातें उसके लिए अपने भाई जैसी ही हों ।

संयोग से पाँचवे दिन प्रबोध को एक जरूरी काम से एक दिन के लिये घर से बाहर चला जाना पड़ा । जाते समय वह सुमित्रा से कह गया—'जनक की खातिरदारी में मेरे पीछे कोई कमी न आये; वह मेरा मेहमान है ।'

उस दिन सुमित्रा ने जनक के लिये सब दिन से अच्छा नाश्ता बनाया, अच्छे घी का मूँग का हलुआ बनाया और बेशन की गरम-गरम पकौड़ियाँ बनवाईं ।

सुधा दो प्लेटों में दोनों चीजें भर कर जनक की मेज पर रख आई। उसके बाद चाय की केतली लेकर जब वह जनक के प्याले में उडेलने लगी तो जनक ने कहा—'हम नहीं पीयेंगे!'

'क्यों ? क्या हुआ ?'

'चाय कहीं अकेले पी जाती है ?'

'लाचारी है', सुधा ने जमीन के फर्श की ओर देखते हुए उत्तर दिया—'भैया आज बाहर गये हुये हैं!'

जनक ने बिना किसी हिचकिचाहट के एकटक सुधा के मुँह की ओर देखते हुये कहा—'वे नहीं तो क्या, तुम तो हो!'

'मैं!' कुछ सहमती-सी आवाज में कहकर सुधा ने केतली की धार रोककर चौंकते हुये एक बार जनक की ओर देखा; फिर न जाने लजाकर, न जाने जनक की किसी बात से डरकर, वह जनक के प्याले में चाय न उड़ेल कर, तत्काल घर के भीतर भाग गई।

कुछ देर में सुमित्रा ने सुधा से कहा—'देखो, कोई प्लेट खाली हो गई हो तो उसमें हलुआ और पकौड़ी कुछ और दे आओ!'

सुधा को फिर जनक के पास जाना ही पड़ा। दोनों प्लेट ज्यों की त्यों रक्खी हुई थीं। चाय भी उसके प्याले में वैसी ही पड़ी थी। सुधा ने देखकर आश्चर्य से कहा—'अरे, आपने तो अभी तक किसी चीज को हाथ से छुआ तक नहीं ?'

जनक ने अपने पूरी ललचाई नजर सुधा के चेहरे पर टिका दी और उत्तर दिया—'कैसे खाता ?'

'क्यों ?'

'तुम जो चली गई थी !'

'लो, मैं आ गई हूँ,' सुधा के मुँह से अनायास निकल गया—'अब खा लो।' और उसने जनक का मन रखने के लिए एक पकौड़ी उठाकर अपने मुँह में डाल ली।

'ऐसे नहीं,' जनक ने कहा—'मेरे पास बैठकर खाओ !'

सुधा उसकी इस इच्छा का पालन न कर सकी। दो मिनट वह वहीं खड़ी-खड़ी न जाने किस भाव से उसका मुँह ताकती रही।

जनक उन दो मिनट में पूरी तरह बौखला गया। उसने निस्संकोच उठकर, सुधा को निर्मिमेष देखते हुये, कसकर उसका हाथ पकड़ लिया और निर्लज्ज होकर कहा—'न जाने कैसे तो इन चार दिनों में आज यह मौका हाथ लगा है; ......तुम उसे भी टाले दे रही हो !'

सुधा उस अनचाही पकड़ से एक बार चीखने को हुई, पर न जाने किस डर चीख न सकी !

भाई-भाई

एक चोर ने एक दिन अर्धरात्रि में एक गृहस्थ के घर में चोरी करने के लिये सेन्ध लगाई और उसके घर में घुस गया।

संयोग की बात उस रात्रि, उस घर का स्वामी विदेश गया हुआ था और उस अर्धरात्रि में उसकी तरुणी भार्या के पास उसका एक प्रेमी जार आया हुआ था।

चोर जैसे ही उस घर के आँगन में घुसा वैसे ही उसकी मन्द पद-चाप उस शंकित हृदय जार के कानों में पड़ी। उसने भयविह्वल स्वर से उस गृहस्थ की तरुणी भार्या से कहा—'प्रिये ! आँगन में कोई है ! कहीं तुम्हारे पति तो इस असमय में विदेश से नहीं लौट आये ?'

तरुणी भार्या ने उत्तर दिया—'नहीं, सखे ! मेरे पति इस असमय में विदेश से लौट आते तो भी बिना पुकार लगाये घर में कैसे घुस आते ? घर के द्वार के कपाट तो मैंने अपने हाथ से बन्द किये थे !'

धीरे-धीरे चोर की पद-चाप निकट से निकट होती गई। 'कोई आँगन में है।' अब इस बात में दोनों को कोई सन्देह नहीं रहा। तत्काल दोनों भयभीत हृदय से अंधकार में उसे देखने के लिये एक बड़े गवाक्ष से आ लगे। बहुत देर तक देखने पर दोनों ने जाना—वैसी भय की कोई बात नहीं; —आँगन में पदचाप करने वाला घर का स्वामी नहीं, कोई चोर है।

चोर देखने में बहुत हृष्ट-पुष्ट बलवान दिखाई देता था। जार और उसकी प्रेमिका का साहस न हुआ—बाहर निकल

कर उससे भिड़ पड़ें और मारपीट कर तुरन्त उसे उस घर से बाहर निकाल दें। यह देखकर भी दोनों 'चोर चोर' कहकर बार-बार चिल्ला भी न सके।

घर थोड़ा-थोड़ा लुटता रहा। दोनों बेबसी से उसे बहुत देर तक देखते रहे। पर चोर अल्प सन्तोषी नहीं था। उसने अपने यत्न से उस आलमारी को ढूँढ़ निकाला, जिसमें उस घर की स्वामिनी के सोने के आभूषण रक्खे हुए थे। जब वह बहुत चाव से एक एक कर उस घर की स्वामिनी के प्रिय आभूषण निकालने लगा—तो उस समय वह अपनी वर्तमान स्थिति को सर्वथा भूल गई और जिस जगह खड़ी थी, वहीं खड़ी-खड़ी जोर-जोर से चिल्लाने लगी—'हाय, रे! मैं तो आज बुरी तरह लुट गई!'

उसका प्रेमी जार, उसका चिल्लाना सुन, तत्काल घर का द्वार खोल अपने भय से बाहर भागा। चोर ने भी जब उसकी चिल्लाहट सुनी तो वह भी, जो उठा सका, उसे उठाकर, तुरन्त उस घर से बाहर निकल उसके पीछे-पीछे भागा।

जार बिना अपना आगा-पीछा देखे भागा जा रहा था। चोर फिर भी चारों ओर दृष्टि डालता हुआ अपना आगा-पीछा सावधानी से देखता हुआ भाग रहा था। कुछ दूर चलकर चोर को कुछ समझ आई। उसने जार से चिल्लाकर कहा—'मित्र! मुझसे भी क्यों डर रहे हो? हम तुम तो भाई-भाई हैं! यह बात दूसरी है—तुम्हारी चोरी और तरह की है, मेरी चोरी और तरह की!'

फिर भी जार के पैर रुकते न थे!

केले और सेव की प्लेट

मंजू के घर पर एक दिन प्रातःकाल एक साथ दो मेहमान आ गए। उनमें से एक उसका भाई था, जो दूर देहात से आया था; और दूसरा उसके पति का छोटा भाई था, जो कलकत्ते में सर्विस करता था। दोनों एक साथ उसके पति की मेज पर चाय पीने बैठे।

मंजू के घर में उस समय, चाय के साथ देने के लिये न कोई मिठाई थी, न कोई नमकीन। बस, केवल एक छोटी पिटारी में एक सेव, चार अमरुद और एक केला ही उसके पास था। लाचार तीन जगह, तीन प्लेटों में, उन सबको ही काटकर उसे विभाजित करना पड़ा।

पहिली दो प्लेटों में उसने डेढ़-डेढ़ अमरुद काटकर ऊपर तक भर दिया। तीसरी प्लेट में उसने पहिले उस एक केले को काट कर रक्खा, फिर सेव और उसके बाद आधे अमरुद की पतली-पतली फाँकें बनाकर उनसे केला और सेव दोनों को पूरी तरह ढाँप दिया। तभी उसने अपने पति की चाय के लिए पुकार सुनी।

वह तेजी से उठी और जल्दी-जल्दी दोनों अमरुदों वाली प्लेटें—एक अपने पति के आगे, एक उनके छोटे भाई के आगे—रख दीं। तीसरी—केले और सेव वाली प्लेट अपने भाई

के सामने रख, केतली से उन संबके प्यालों में चाय उडेलने लगी।

उसके पति की निगाह बहुत तेज थी। उन्होंने न जाने कैसे यह भाँप लिया कि तीसरी प्लेट में अमरुद के अतिरिक्त कुछ और भी है। उन्होंने धीरे से, जब मंजू उनके प्याले में सावधानी से चाय उडेल रही थी, अपने दाहिने हाथ से, वह केले और सेव वाली प्लेट फुर्ती से अपने छोटे भाई के आगे खिसका दी और उसकी खाली अमरुदों वाली प्लेट उठाकर मंजू के भाई के आगे रख दी।

ऊपर से देखने में दोनों प्लेटें एक समान थीं, इसलिये इस बात में उन दोनों को कोई आपत्ति न हुई; पर मंजू की नीचे झुकी निगाहों ने जब यह सब देखा तो उसके हाथ की चाय की केतली काँपने लगी। फिर भी, उस समय वह बोली नहीं, अपने पति को केवल एक बार तीखी कड़वी नजर से देख-कर रह गई।

उसके बाद, न जाने कैसे, जब मंजू अपने पति के भाई के प्याले में सावधानी से चाय उडेलने लगी, यकायक उसका हाथ बुरी तरह काँप गया और उसके हाथ की केतली से चाय की धार उसके पति के भाई के चाय के प्याले में पड़ती-पड़ती उसकी प्लेट में बुरी तरह जा पड़ी। वह चीख पड़े—'उफ् भाभी! यह क्या किया? मेरी तो सारी पैन्ट ही तुमने खराब कर दी!'

अपने पति के भाई के मुख से यह बात सुनते ही, अपने हाथ की केतली सम्भाल कर मेज पर टिका दी और उनके आगे से वह प्लेट उठाकर, फिर अपने भाई के सामने रखते हुये, मंजू

ने कहा—'कोई बात नहीं। मेरा भाई इस बिगड़ी हुई प्लेट को खा लेगा! आप उसकी प्लेट ले लीजिये!'

मंजू के पति चौकन्ने बैठे थे। उन्होंने तुरन्त मंजू के हाथ से उस प्लेट को छीनते हुये कहा—'पागल हुई हो; मेहमान के सामने कहीं ऐसी गन्दी प्लेट रखा करते हैं? लाओ, इसे मैं खा लूंगा। मेरे वाली प्लेट उठाकर अपने भाई के सामने रख दो!'

मंजू जन्म से ही बहुत प्रत्युत्पन्नमति थी। एक क्षरण को वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हुई, पर दूसरे ही क्षरण जैसे उसे अपने पति की कोई पिछली बात याद हो आई और उसने जबर्दस्ती अपने पति के हाथ में से वह प्लेट छीनकर अपने भाई के सामने रखते हुये कहा—'अरे, मैं तो भूल ही गई थी। तुम्हें इस समय निहार-मुँह मैं अमरूद थोड़े ही खाने दूंगी! उस दिन की तरह फिर तुम्हारे पेट में भारी दर्द हो जायेगा!' और उसके बाद उसने अपने पति के सामने से उनकी अमरुदों वाली प्लेट भी उठाकर आधी-आधी अपने भाई और उनके भाई में बाँट दी।

मिट्टी के आदमी

एक राजा एक दिन घूमता हुआ नदी के किनारे जा निकला। वहाँ आकर उसने देखा——एक पागल-सा आदमी नदी के किनारे पक्की ईंटों के छोटे-छोटे मकान, छोटी-छोटी सड़कें, छोटी-छोटी नदियाँ और उनके ऊपर छोटे-छोटे पुल बना रहा है।

राजा ने उसके निकट जाकर पूछा——'तुम यह क्या कर रहे हो ?'

'अपनी प्रजा के लिए एक सुन्दर नगर बना रहा हूँ !' उसने उत्तर दिया।

'तेरे प्रजाजन कहाँ हैं ?' राजा ने फिर पूछा।

वह आदमी राजा का हाथ पकड़कर कुछ दूर एक छोटे से टीले पर ले गया और कहा——'यह देखो, टीले के ऊपर एक कतार में ये सब मेरे प्रजाजन खड़े हैं !'

राजा ने देखा—टीले के ऊपर एक कतार में बहुत से मिट्टी के बने निर्जीव आदमी खड़े हैं। राजा ने किंचित् मुस्कुराते हुये पूछा—'ये तेरे मिट्टी के आदमी इन सड़कों और इन नदी-पुलों को कैसे पार करेंगे ?'

राजा की यह बात सुनकर वह आदमी राजा का हाथ पकड़कर उसे टीले के दूसरे पार ले गया। राजा ने उस जगह

जाकर देखा—वहाँ लोहे की एक बड़ी मशीन रक्खी हुई है। उसे दिखाकर उस आदमी ने कहा—'यह विज्ञान का, युग है। जो काम आदमी अपने आप नहीं कर सकता, वह आज विज्ञान द्वारा सरलता से हो जाता है। मेरे प्रजाजन भी इस लोहे की मशीन पर बैठक सरलता से इस नगर की सड़कें और नदी-पुल पार करेंगे!'

राजा ने उसे धिक्कारते हुये कहा—'ये तेरे आदमी वैसे जीवित कहाँ हैं, जैसे नगरों में रहने वाले मनुष्य होते हैं?'

राजा की यह बात सुनकर वह आदमी दो क्षण को अप्रतिभ और चिन्तित-सा हुआ। उसके बाद उसने राजा से पूछा—'तेरे नगर में राजा! वैसे जीवित मनुष्य हैं?'

'हाँ!' राजा ने उत्तर दिया।

'चल, मुझे दिखा?' उस आदमी ने कहा।

राजा उसे लेकर अपने नगर में आया और उसने उस नगर में रहने वाले चलते-फिरते आदमियों को उसे दिखाया।

वह आदमी उन्हें देखकर कुछ देर सोचता रहा। उसके बाद वह तेजी से उछला और दौड़-दौड़ कर उसने किसी के मुँह पर चपत मारा, किसी के मुँह पर घूँसा और किसी की कमर पर दो लात।

अकस्मात् इस प्रकार निर्भीकता से उसे मार-पीट करते देख उस नगर के लोग भय से भाग-भाग कर अपने-अपने घरों में घुस गये, पर किसी ने उसे कुछ कहा नहीं।

राजा उसकी इस अनुचित बात पर अपना रोष प्रकट करना चाहता था, परन्तु उससे पहिले ही उसने राजा से कहा—'ये तेरे इस नगर के चलते-फिरते आदमी जीवित कहाँ हैं,

राजा ? इस संसार में जीवित तो वही कहलाते हैं, जो किसी दूसरे से अपना अपमान नहीं सहते ? ये तो सब मरे हुये हैं ! जिन्दा आदमियों की लाशें हैं, जो तुम्हें चलती-फिरती दिखाई दे रही हैं ! चल, लौटकर देख——तेरे इन जीवित आदमियों से तो मेरे मिट्टी के आदमी कितने अच्छे हैं, जो मिट्टी के बने होने पर भी किसी का किया अपमान नहीं सह सकते !'

राजा को उसकी बात पर आश्चर्य हुआ। वह उसके साथ लौटकर फिर नदी के किनारे आया।

नदी के किनारे पहुँचते ही उसने राजा को टीले के सामने ले जाकर कहा——'अरे, मार तो तू मेरे इन मिट्टी के आदमियों के शरीर पर मेरी तरह चपत, लात, घूँसे !'

राजा ने उसके कहते ही उछलकर उन मिट्टी के आदमियों के ऊपर चपत, घूँसे और लातें मारनी आरम्भ कर दीं।

राजा के घूँसे और लात जिस पर लगते गये, वही मिट्टी का आदमी चूर-चूर होकर पृथ्वी पर गिरता गया।

उनके गिरते ही उस आदमी ने चिल्लाकर कहा—'देखा, तेरे आदमी जीवित होते तो अपने अपमान का प्रतीकार करते—बदला लेते या मर जाते? उन्होंने अपना अपमान सहा; पर इन आदमियों ने नहीं सहा। मिट्टी के थे, इसलिए तुमसे अपने अपमान का बदला तो नहीं ले सके, किन्तु इन्होंने अपमान सहकर जीवित रहने की अपेक्षा, अपने शरीर नष्ट कर दिये !'